प्रेरणा की दिव्य-रेखाएं

(देशनोक पर्युषण-प्रवचन)

प्रवचनकार—

आचार्य श्री नानालाल जी म. सा.

सम्पादक—

श्री पं० बसंतीलाल नलवाया

प्रकाशक—

श्रीमती बाधुदेवी दूगड़

(धर्मपत्नी स्व० श्री अमोलकचन्द जी दूगड़)

देशनोक (राजस्थान)

प्रकाशक—
श्रीमती बाधुदेवी दूगड़
(धर्मपत्नी स्व. श्री अमोलकचन्द जी दूगड़)
देशनोक (राजस्थान)

संस्करण – प्रथमावृत्ति ११००, सन् १९७७

मूल्य—चार रुपया

प्राप्ति-स्थान—
श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ
समता-भवन, रामपुरिया मार्ग
बीकानेर (राजस्थान)

मुद्रक
जैन आर्ट प्रेस,
बीकानेर (राज०)

समर्पण

परम श्रद्धेय, बाल ब्रह्मचारी, चारित्र-चूड़ामणि,
आगमनिधि, जिनशासन–प्रद्योतक,
समता–दर्शन प्रणेता

धर्मपाल–प्रतिबोधक

आचार्य श्री नानालाल जी म. सा.

को

सादर सविनय समर्पित

प्रकाशकीय

परम श्रद्धेय, समता दर्शन प्रणेता, धर्मपाल प्रतिबोधक, जिनशासन प्रद्योतक, वाल ब्रह्मचारी, आचार्य प्रवर पूज्य श्री श्री १००८ श्री नानालाल जी म. सा. ने महती कृपा करके संवत् २०३२ का वर्षावास देशनोक में किया। यह देशनोक-संघ का अहोभाग्य और भारी पुण्यवानी का सुफल था। परम श्रद्धेय आचार्य श्री के प्रबल प्रताप से चातुर्मास काल में ज्ञान-ध्यान, स्वाध्याय व त्याग तपस्या की देशनोक में वरावर झड़ी सी लगी रही।

प्रतिदिन व्याख्यान के समय देशनोक एवं आस-पास के ग्रामवासी तथा दूर-दूर से भी बड़ी संख्या में आए हुए धर्मप्रेमी भाई-बहिनों ने परम श्रद्धेय आचार्य श्री के प्रवचनों का लाभ लिया। आचार्य श्री के प्रवचन सीधी एवं सरल भाषा में होते हैं, फलतः श्रोताओं पर उनका जादू का सा असर होता है और प्रवचन सुनकर वे गद्‌गद् हो जाते हैं।

परम श्रद्धेय आचार्य श्री जी म. के प्रवचन तत्कालीन होते हैं, अतः चातुर्मास के आनंद को अक्षुण्ण रखने हेतु प्रवचनों को ग्रन्थ रूप में प्रकाशित करने से जन-साधारण

को उनका स्थायी लाभ प्राप्त होता रहता है । इसी भावना से देशनोक में दिए गए पर्युषण-प्रवचनों का संग्रह 'प्रेरणा की दिव्य-रेखाएं' नाम से प्रकाशित किया गया है ।

इस उत्तम प्रवचन-संग्रह के सम्पादक श्री बसन्तीलाल जी सा. नलवाया हमारे हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने अपने अन्य आवश्यक कार्यों में से समय निकालकर यह कार्य पहिले सम्पन्न करने की कृपा की । इसी प्रकार श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ को भी हमारा हार्दिक धन्यवाद है, जिससे हमें सदैव शुभ प्रेरणा प्राप्त होती रहती है ।

आशा है, इस प्रकाशन का सभी धर्म-प्रेमी भाई-बहिन पूरा लाभ उठाएंगे ।

—बाधुदेवी डूगड़

(स्वर्गीय श्री अमोलकचन्द जी दूगड़)

जन्म	स्वर्गवास
संवत् १९६२ वि०	संवत् २०३२ वि०

स्व. श्रीमान् सेठ अमोलकचन्द जी सा. दूगड़

(जीवन-रेखा)

मरुभूमि प्रदेश में बीकानेर जिले के अन्तर्गत देशनोक ग्राम जो करणी माता के मन्दिर के कारण सुविख्यात है, वहां के निवासी श्रीमान् अमोलकचंद जी सा. दूगड़ धर्मपरायण और समाजसेवी आदर्श श्रावक थे। आपका जन्म संवत् १९६२ कार्तिक शुक्ला ३ को हुआ था। आपके पूज्य पिताजी का शुभ नाम दानमल जी और माताजी का पवित्र नाम श्रीमती हीराबाई था। आपके दो भाई एवं दो वहिनों में आपकी एक बड़ी बहिन पेमाबाई व आपसे छोटे भ्राता श्री तोलाराम जी आपसे पहले ही वैकुंठवासी हो गये। वर्तमान में आपकी बहिन श्री किसनाबाई व अनुज भ्राता श्री घेवरचंद जी अपना जीवन धर्मनिष्ठा से व्यतीत कर रहे हैं।

आपका शुभ-विवाह श्रीमती बाधुदेवी के साथ हुआ। इस दम्पती से चार पुत्र और दो पुत्रियां हुईं। चारों पुत्रों के नाम क्रमशः श्री मानिकचंद जी, श्री मोतीलाल जी, स्वर्गीय श्री जयचंदलाल जी एवं श्री भीखमचंद जी हैं। पुत्रियों के नाम श्री सोनादेवी और श्री मैनादेवी हैं।

श्री अमोलकचंद जी सा. ने अपनी [illegible] बाल्य अवस्था में ही कार्य-भार संभाल लिया [illegible] व्यापार के निमित्त बंगाल गये एवं अपनी [illegible] प्रतिभा और सूझबूझ से व्यापार को बहुत [illegible]। आपकी वर्तमान समय में तीन फर्में चल रही हैं :—

१. मानिकचंद [illegible], कलकत्ता।
२. मोतीलाल [illegible], „

३. मोतीलाल विनोदकुमार, कलकत्ता।

इनमें पहली फर्म पर एल्युमिनियम का व्यवसाय है। दूसरी फर्म पर मनिहारी तथा तीसरी पर रेडीमेड वस्त्रों का व्यवसाय है। आपने धन न केवल अर्जित ही किया अपितु उसे सामाजिक और धार्मिक प्रवृत्तियों में भी लगाया। आपने देशनोक में अमोलकचंद दूगड़ प्राथमिक विद्यालय का भवन बनवाकर शासन के हस्तगत किया, जिसमें वर्तमान में लगभग २०० छात्र विद्या पा रहे हैं।

सं० २०३२ में जिनशासन प्रद्योतक, चारित्र-चूड़ामणि प्रातःस्मरणीय आचार्य प्रवर श्री १००८ श्री नानालाल जी म. सा. का देशनोक में चातुर्मास हुआ। आपने उस समय धर्मध्यान तथा सेवा-पर्युपासना का अच्छा सहयोग दिया था। आचार्यदेव के कुछ प्रवचनों को सर्वसाधारण के उपयोगार्थ प्रकाशित करने की आपकी अभिलाषा जागृत हुई। इस दिशा में प्रयत्न भी शुरु हो गया किन्तु अत्यन्त खेद का विषय है कि मिती कार्तिक शुक्ला ५, सं० २०३२ को आपका स्वर्गवास हो गया। आपकी यह अभिलाषा पूर्ण न हो सकी। इस अभिलाषा के अनुसार इन प्रवचनों का प्रकाशन उनकी धर्मपत्नी द्वारा कराया जा रहा है।

आपके एक सुपुत्र श्री जयचंदलाल जी का २५ वर्ष की भर-जवानी में आकस्मिक स्वर्गवास हो गया। इसका उन्हें तथा परिवार को तीव्र दुःख रहा।

श्री अमोलकचंद जी सा. का जीवन यशस्वी रहा है। वे अपने पीछे भरापूरा समृद्ध परिवार छोड़ गये हैं। इस प्रकार आपका जीवन एक सद्-गृहस्थ का सफल जीवन रहा है।

अनुक्रमणिका

शाश्वत-सौन्दर्य

श्री जिनराज सुपार्श्व पूरो आश हमारी ।
सुगुण सनेही साहिब साचो, सेवक ने सुखकारी
धर्म, काम, धन, मोक्ष इत्यादिक, मनवांछित सुख पूरो ।
वार-वार यही विनती भव भव चिन्ता चूरो ।।

प्रार्थना के माध्यम से सुपार्श्वनाथ भगवान् के चरणों में आत्मा का निवेदन चल रहा है । भव्यजनों की भावना विभिन्न रूप लेकर प्रभु के चरणों में उपस्थित होती है । विभिन्न परिस्थितियों का अनुभव करती हुई आत्मा इस निष्कर्ष पर पहुंचती है कि उसकी आशाओं की पूर्ति जगत् के अन्य प्राणियों से या अन्य भौतिक पदार्थों से होने वाली नहीं है । जगत्वर्ती पुरुषों का आद्योपान्त अवलोकन करने के पश्चात् आत्मा इस परिणाम पर पहुंचती है कि जो स्वयं आशा की जंजीरों से जकड़े हुए हैं वे दूसरों की आशाओं को कैसे पूर्ण कर सकते हैं ? जो स्वयं तृष्णा से तड़फ रहा रहा है, जिसके कंठ प्यास के मारे सूख रहे हैं वह व्यक्ति दूसरे की प्यास को कैसे शान्त कर सकता है ? जो व्यक्ति अपने अन्तःकरण में भौतिक पदार्थों की लालसाओं को बटोरे बैठा है, वह दूसरे की आध्यात्मिक आशा की तृप्ति कैसे कर सकता है ? जिसने जिस वस्तु का आस्वादन नहीं कि[illegible] वह उसका निरूपण कैसे कर सकता है ? जिसने

मार्ग का अवलोकन नहीं किया है वह दूसरे को मार्ग नहीं बता सकता। जिसका दृष्टिकोण बाहर ही बाहर दौड़ता रहा, जो आत्मा से भिन्न भौतिक पदार्थों को ही सब कुछ समझता रहा वह अपने भीतरी स्वरूप को कैसे समझ सकता है? जिसने कभी अन्तरतर के समुद्र में डूबकी नहीं लगाई, वह उसमें रही हुई अमूल्य रत्न-राशि को कैसे पा सकता है?

चेतन की विराट शक्ति :

यह विराट चेतन-तत्त्व अपने आप में परिपूर्ण है। उसे अन्य पदार्थों की कोई अपेक्षा नहीं रहती। अन्य पदार्थों की अपेक्षा उसी को रहती है जो स्वयं परिपूर्ण न हो। जल की दृष्टि से समुद्र परिपूर्ण है, वह कूप-जल की या नदी के जल की आशा नहीं करता। यह बात दूसरी है कि समग्र जल स्वयमेव समुद्र की ओर चला आता है। समुद्र उसकी आकांक्षा या आशा नहीं रखता। वैसे ही विराट चेतन स्वतः परिपूर्ण है अतएव वह अन्य किसी पदार्थ की अपेक्षा नहीं रखता। चेतन तत्त्व अपने भौतिक रूप में स्वयं प्रभु और सार्वभौम शक्ति-सम्पन्न है। परमात्मा की शक्ति से उसकी शक्ति किञ्चित् भी कम नहीं है। जिस तत्त्व में ऐसी विराट शक्ति रही हुई है, उसके लिए तुच्छ भौतिक पदार्थों की लालसा कोई महत्त्व नहीं रखती। क्या सूर्य अपने प्रकाश को प्रकाशित करने के लिये मिट्टी के ढेलों की अपेक्षा रखता है? क्या कभी वह पहाड़ों, चट्टानों या पृथ्वी-तल की अन्य चीजों की आशा या अपेक्षा रखता है? हर कोई जानता है कि सूर्य को इनकी अपेक्षा नहीं रहती। इसी तरह भव्य जनों को यह विश्वास होता है कि उनकी आत्मा सूर्य के प्रकाश से भी अधिक प्रकाश का पुंज है।

वह सूर्य से भी अधिक देदीप्यमान है। "सूर्य का प्रकाश नियत क्षेत्र और नियत काल की परिधि में सीमित होता है। समग्र लोक को वह प्रकाशित नहीं कर सकता।" मध्यलोक के अमुक-अमुक क्षेत्र को ही वह आलोकित करता है लेकिन आत्मा की ज्ञान-रश्मियां न केवल मध्यलोक को अपितु ऊर्ध्वलोक और अधोलोक को भी आलोकित करती हैं। वह तीनों लोकों के समग्र स्वरूप को प्रकाशित करने वाली है। लोक ही नहीं, लोक के समान असंख्य या अनन्त लोक यदि अलोक में भी हों तो उनको भी प्रकाशित करने की शक्ति—जानने की शक्ति—आत्मा में है। इतनी विराट शक्ति का स्वामी यह चेतन-तत्त्व है। ऐसा विराट चेतन-तत्त्व भौतिक सारहीन पदार्थों की आशा करे, यह कितना हास्यास्पद है।

विराट शक्ति के प्रति विश्वास :

क्या आपको आत्मा की इस विराट शक्ति के प्रति विश्वास है? आपकी आत्मा अनन्त शक्तियों का पिण्ड है, क्या कभी आप यह अनुभव करते हैं? क्या अपने आप के प्रति आपकी आस्था है? कहने के लिये तो आप कह सकते हैं कि 'महाराज, आप कह रहे हैं तो हम मान लेते हैं।' परन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि सुनने-सुनने में अन्तर होता है। एक सुनना होता है केवल कानों से और एक सुनना होता है अन्तर-तर से। कानों से हर कोई सुनता है परन्तु अन्तर-तर से सुनने वाला श्रावक कहलाता है। यदि आप अपनी दृष्टि को बाहर से हटा कर अपनी आत्मा में झांकने का प्रयत्न करेंगे तो आपको अपनी आत्मा में रही हुई विराट शक्ति का स्वरूप-दर्शन हो सकेगा!

अभी आप देशनोक के इस धार्मिक भवन में बैठकर प्रवचन-श्रवण कर रहे हैं। इस धार्मिक भवन को बनवाने वाले संघ के सदस्यों को और इसका निर्माण करने वाले कारीगरों को आप जानते हैं लेकिन क्या यह विशाल भवन उनको जानता है ? क्या यह भवन यह जानता है कि इतने मनुष्य यहां एकत्र होकर धर्म-श्रवण कर रहे हैं ? क्या इसमें यह विज्ञान-शक्ति है ? इस भवन की छत तथा पंडाल में लगे हुए टीन क्या यह जान रहे हैं कि हमारी छाया में इतने व्यक्ति बैठे हुए हैं ? ये जड़ पदार्थ यह नहीं जान सकते। आप यह सब जान रहे हैं। इस जानकारी के लिये क्या आपको मकान आदि किसी जड़ पदार्थ की अपेक्षा रहती है ? नहीं, आपका ज्ञान आपके पास है। कलकत्ता में कौनसी चीज कहां है, यह आप जानते हैं। जो भाई बम्बई आदि स्थानों में पहुंचे हैं, वहां की वस्तुओं का विज्ञान उनके पास है। वह विज्ञान कहां हैं ? द्रष्टा कहां है ? वहां है या यहां है ? आप इस सन्दर्भ में चिंतन कीजिये। अपनी छोटी सी दृष्टि से, नेत्रों के गोलक से आप कुछ पदार्थों को देख रहे हैं परन्तु इन नेत्र-गोलक के पीछे छिपा हुआ जो वास्तिवक द्रष्टा है उसमें जो शक्ति है वह न नेत्र-गोलक में है, न मकान में है, न पहाड़ में है और न चट्टान में, न सोने में है, न रत्न में है और न किसी अन्य जड़ पदार्थ में है। वह शक्ति आप में है। यदि आप बाहर से हटकर अपने आप में केन्द्रित हो जाएं तो आप उस विराट-शक्ति को देख सकते हैं। गीता के अनुसार योगीश्वर श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अपने विराट स्वरूप का दर्शन कराया था। आप भी अपने उस विराट स्वरूप को देखने और समझने का प्रयास करें। आपका अपना विराट

स्वरूप अभी आच्छन्न है, ढका हुआ है। भस्म से आच्छादित आग की तरह आपकी आत्मा की ज्योति मोह के आवरणों से मंद पड़ी हुई है। यदि आप अपने पुरुषार्थ से मोह के आवरणों को दूर कर दें तो आपकी आत्मा की अनन्त ज्योति और विराट शक्ति प्रगट होकर समस्त लोकालोक को अपनी शक्तियों से आलोकित कर सकेगी।

विश्वास फलदायक :

यदि आपको अपनी अनन्त शक्तियों पर दृढ़ विश्वास हो जाय तो निस्संदेह आप अनन्त शक्ति से सम्पन्न हो सकते हैं। इसके लिए आवश्यक है—दृढ़ आस्था, अडोल विश्वास और प्रबल संकल्प। संस्कृत की एक सूक्ति है—

विश्वासो फलदायकः

विश्वास फलदायक होता है। विश्वास के अभाव में व्यक्ति किसी भी क्षेत्र में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। विश्वास को लेकर चलने वाला व्यक्ति ही सफलता के शिखर पर पहुंचता है। अपनी आत्मा की विराट शक्ति के विश्वास का संबल लेकर यदि आप साधना के क्षेत्र में आगे बढ़ेंगे तो निस्संदेह आप अपनी छिपी हुई—दबी हुई शक्ति को प्रकट करने में सफलता प्राप्त कर सकेंगे।

शिलाओं का भार :

मैं आपसे एक सीधा सा प्रश्न करूं। यदि कोई व्यक्ति किसी दुर्घटना के कारण पत्थर की शिला के नीचे दब जाय तो वह क्या करेगा? आप चट उत्तर देंगे कि वह किसी भी तरीके से निकलने की कोशिश करेगा। यदि उसके

हाथ खुले हैं तो उनसे शिला को हटाने का प्रयास करेगा। उस समय यदि कोई उसे कहे कि कलकत्ते से सोहन हलुवा आया है, अपने हाथों में उसे ग्रहण करो। क्या वह व्यक्ति उस समय अपने हाथों को हलुआ ग्रहण करने में लगाएगा? या अपने पर पड़ी हुई शिला को हटाने के लिये हाथों का उपयोग करेगा? स्पष्ट है कि वह पहले शिला को हटाने का प्रयास करेगा। वह जानता है कि शिला के नीचे अधिक समय तक दबे रहने पर प्राणों से हाथ धोना पड़ेगा। हलुआ तो, यदि जीवित रहा, कई बार खाने को मिल सकेगा। उस समय न वह सिनेमा (चल-चित्र) देखना पसंद करेगा और न वह पांचों इन्द्रियों को मनोज्ञ लगने वाले किसी पदार्थ के प्रति ललचाएगा। उस समय उसका एक ही मनोरथ है, एक ही दृष्ट है, एक ही साध्य है किसी तरह शिला को हटाना? वह अपनी समस्त शक्ति शिला को हटाने में ही लगाएगा। यदि कदाचित् ऐसा न करते हुए वह सोहन हलुआ खाने या मनोज्ञ रूप आदि देखने में लग जाय तो आप उसे क्या कहेंगे? "मूर्ख"!

सचमुच यह मूर्खता ही होगी। अब जरा आप अपनी स्थिति का सिंहावलोकन करलें कि कहीं ऐसी गलती या मूर्खता हम से तो नहीं हो रही है? इस आत्मा पर बहुत भारी शिलाएं पड़ी हुई हैं। ये शिलाएं बाहरी नहीं हैं। बाहर की शिलाएं तो दूसरों की सहायता से भी हटाई जा सकती हैं परन्तु आत्मा पर पड़ी हुई आठ कर्मों की भारी शिलाओं को हटाने के लिये तो स्वयं को ही पुरुषार्थ करना पड़ता है। दूसरा व्यक्ति निमित्त मात्र हो सकता है, उपादान नहीं। मुख्य रूप से अपना पुरुषार्थ ही अपने लिए

कारगर हो सकता है। दूसरों की अपेक्षा रखने वाला व्यक्ति निर्बल और निराश होता है। अपने पुरुषार्थ पर भरोसा करने वाला व्यक्ति ही सफलता का वरण किया करता है। इन आठ कर्मों की शिलाओं को हटाने का काम आसान नहीं है। यह एक अत्यन्त कठिन कार्य है परन्तु प्रबल पुरुषार्थ के द्वारा साध्य है। यह आपका सद्‌भाग्य है कि आपकी पांचों इन्द्रियों की शक्ति खुली हुई है, आपके हाथ-पांव खुले हैं, आपका स्थूल औदारिक शरीर खुला हुआ है, केवल आत्मिक शक्ति शिलाओं से दबी हुई है। ऐसी स्थिति में आप अपनी इन्द्रियों का, शरीर का और शरीर के अंगोपांगों का उपयोग आत्मा की दबी हुई शक्तियों को प्रकट करने में करेंगे या खान-पान नाच-गान में लगाएंगे, यह बात मैं आपके विवेक पर छोड़ता हूँ।

पर्युषण : एक पावन प्रसंग :

भाइयो ! पर्युषण पर्व का आज प्रारम्भ हो रहा है। आत्मा पर पड़ी हुई आठ कर्मों की भारी शिलाओं को हटाने के लिये पुरुषार्थ करने हेतु आठ दिन के पर्युषण पर्व का पावन प्रसंग हमारे सामने उपस्थित हुआ है। आत्मा के अभ्युदय का एक सुनहरा अवसर पर्युषण पर्व के रूप में हमें प्राप्त हुआ है। यदि हम चाहें तो इस महान् आध्यात्मिक पर्व के प्रेरक संदेश को हृदयंगम करके अपनी आत्मा की दबी हुई अनन्त शक्तियों को उजागर कर सकते हैं। एक मौका फिर आया है अपनी आत्मा को जागृत करने का, एक स्वर्ण-अवसर मिला है मोह के अन्धकार को चीर कर आत्मा की निर्मल ज्योत्स्ना को प्रस्फुटित करने का ! एक सुन्दर प्रसंग आया है, आत्मा के संशोधन का !!

पर्युषण पर्व की विलक्षणता :

भारत पर्व-प्रधान देश है। इसमें जितने पर्व मनाये जाते हैं, उतने संभवतः अन्य देशों में कहीं नहीं मनाये जाते। पर्वों के पीछे कोई न कोई उद्देश्य रहा हुआ है। वह उद्देश्य भले ही आज धूमिल हो गया हो, तदपि पर्वों की परम्परा आज भी भारत में प्रचलित है। रक्षा-बन्धन का पर्व रक्षा के उद्देश्य को लेकर आरंभ हुआ था। यह बात दूसरी है कि उसके वर्तमान स्वरूप में लोभ की विकृत्ति का समावेश हो गया है। दीपमालिका पर्व स्वच्छता, सजावट, व्यापारिक लेन-देन की सफाई, व्यापार का लेखा-जोखा तथा बहीखातों के नवीनीकरण के उद्देश्य को लिये हुए आता है। यद्यपि इस पर्व के पीछे एक आध्यात्मिक विभूति की अलौकिक ज्योति का सम्बन्ध जुड़ा हुआ है तदपि वर्तमान में वह गौण हो गया है। आन्तरिक स्वच्छता की अपेक्षा बाह्य स्वच्छता की प्रधानता ही विशेष रूप से परिलक्षित होती है। होली का पर्व मनोरंजन की प्रमुखता को लिये हुए है। इस तरह अलग-अलग दृष्टि-कोणों से कई पर्व प्रारम्भ हुए और उनकी परम्परा चल रही है। परन्तु उन सब पर्वों की अपेक्षा यह पर्युषण पर्व अपनी विलक्षणता को लेकर हमारे समक्ष आता है।

जहां अन्य पर्वों का उद्देश्य बाहरी आमोद-प्रमोद और भौतिकता से सम्बद्ध होता है, वहां पर्युषण पर्व का उद्देश्य आत्मा को सजाने-संवारने का होता है। अन्य पर्वों में शरीर की सजावट की जाती है, खान-पान और आमोद-प्रमोद व मनोरंजन किया जाता है, घर-बार की बाहरी सफाई और रंगाई-पुताई की जाती है। परन्तु पर्युषण पर्व

में कोई अनूठा ही वातावरण दृष्टिगोचर होता है। अपने आप में यह एक विलक्षण पर्व है। यह शरीर को नहीं, आत्मा को सजाने का पर्व है। यह बाहरी स्वच्छता का नहीं, हृदय को स्वच्छ करने का पर्व है। यह अन्य को जीतने का नहीं, अपितु आत्मविजय का महान् पर्व है।

यह पर्व प्रत्येक आत्मा के लिये हितावह है। इस पर्व के पीछे किसी जाति का सम्बन्ध नहीं है, यह किसी व्यक्ति या पार्टी की बपौती नहीं है। मानव मात्र के लिये यह पर्व उपादेय और मंगलकारी है। आत्मिक आनन्द की उर्मियों से आत्मा को आह्लादित करता हुआ यह पावन पर्व हमारे सामने आया है :—

यह पर्व पर्युषण आया, घर घर में आनन्द छाया रे। यह०
कोई करे बेला-तेला, कोई देवे कर्मों को ठेला रे,
यह पर्व पर्युषण आया, दुनिया में आनन्द छाया रे। यह०

यह पर्युषण पर्व जन-जन के मन को प्रमुदित कर रहा है। प्रत्येक के दिल में आज विशेष धार्मिक उत्साह दृष्टिगोचर हो रहा है। बालक, युवक, वृद्ध, स्त्री-पुरुष-सभी के हृदय आनन्द से आन्दोलित हो रहे हैं। आज विशेष उत्साह और विशिष्ट तैयारी के साथ विपुल परिमाण में आप धर्माराधना के लिये इस भवन में एकत्र हुए हैं। विद्यार्थी-गण भी यहां उपस्थित है परन्तु संभवतः उन्हें थोड़ी देर बाद विद्यालय जाना पड़ेगा क्योंकि इस पर्व प्रसंग पर उनके लिये अवकाश की व्यवस्था नहीं है। क्रिसमस, ईद आदि पर्वों पर अवकाश की व्यवस्था है। उन धर्मावलम्बियों में

एकता है, संगठन है, जागृति है और धर्म के प्रति लगाव है। अत: उनके लिए अवकाश की व्यवस्था है । आप लोगों में जागृति, एकरूपता और प्रयत्नशीलता शायद नहीं है । यदि एकरूप होकर इस दिशा में प्रयत्न किया जाय तो इस पावन पर्व के प्रसंग पर भी अवकाश की व्यवस्था हो सकती है ताकि विद्यार्थी भी इस पावन पर्व की आराधना स्वतंत्र होकर कर सकें ।

आध्यात्मिक सप्ताह :

आज के वातावरण में देश में विविध सप्ताहों का आयोजन होता रहता है। कभी राष्ट्रीय सप्ताह मनाया जाता है, कभी कृषि सप्ताह, कभी श्रम सप्ताह । इन आयोजित सप्ताहों में अन्य कार्यों से छुट्टी लेकर विशेष कार्यक्रमों की ओर ध्यान दिया जाता है । राष्ट्रीय सप्ताह में राष्ट्रहित के दृष्टिकोण को प्रमुखता देकर तदनुरूप कार्यक्रमों का आयोजन हुआ करता है । सफाई-सप्ताह में स्वच्छता को प्रमुखता दी जाती है और वैसे ही कार्यक्रम मुख्य रूप से सम्पन्न किये जाते हैं । कृषि सप्ताह में कृषि के विषय में विशेष सोच-विचार किया जाता है । इसी प्रकार यह पर्युषण पर्व भी आध्यात्मिक सप्ताह है । प्रारम्भ के सात दिन साधना के क्षण हैं । आठवां दिन परीक्षण का है । इसमें वाह्य-जगत् के क्रिया-कलापों से निवृत्ति लेकर आध्यात्मिक जगत् में संचार करना है । आत्मा को स्वच्छ बनाने वाले कार्यक्रमों को प्रमुखता देनी है । मन, मस्तिष्क और हृदय की गंदगी को मिटाना है । आत्मा को पवित्र बनाना है । आत्मा में न जाने कितना कचरा इकट्ठा हो रहा है । राग, द्वेष, काम, क्रोध, मद, मत्सर, तृष्णा आदि का कूड़ा-कचरा इस आत्मा

को मलिन बनाये हुए है। इस में कूड़े-कचरे को साफ करना आवश्यक है अन्यथा भयंकर गन्दगी और सड़ान पैदा करेगा। यदि कूड़ा-कचरा अधिक इकट्ठा हो जाय तो फिर उसे स्वच्छ बनाना बहुत कठिन हो जाएगा। आपके घर में यदि अधिक दिन तक गंदगी रह जाय तो आप जानते ही हैं कि कितने कीड़े-मच्छर पैदा हो जाते हैं और मलेरिया आदि अनेक रोगों की उत्पत्ति के निमित्त बनते हैं। अतएव आप अपने मकान को साफ-सुथरा रखने का प्रयास करते हैं। जितनी सावधानी और चिन्ता आप अपने मकान की सफाई के विषय में रखते हैं उतनी चिन्ता या उतनी सावधानी आत्मा की सफाई के लिये रखते हैं क्या ? दुख के साथ कहना होगा कि आत्मा की सफ़ाई के लिये उतना ध्यान नहीं दिया जाता है। हम अपनी आत्मा को विषय-कषायों से मलिन बनाते रहते हैं, आत्मा के स्वास्थ्य को काम-क्रोध मद-लोभ से बिगाड़ते रहते हैं।

मन-मन्दिर की सफाई :

बन्धुओ ! यह याद रखना चाहिये कि हमारी यह आत्मा परमात्म-भाव का निवास-स्थान है। इस निवास-स्थान को गंदा रख कर आप परमात्म भाव का आह्वान कैसे कर सकेंगे ? गंदे मन में, गंदे हृदय में परमात्मा को कैसे आसीन किया जा सकता है ? यदि आप अपने मन-मन्दिर में हृदय के सिंहासन पर परमात्मा को विराजमान करना चाहते हैं तो आपको अपने मन और हृदय को निर्मल, स्वच्छ और सुन्दर बनाना होगा। मन, हृदय और आत्मा को निर्मल बनाने के लिये ही यह पर्युषण का पावन प्रसंग आया है। वैसे तो प्रतिदिन मकान की

सफाई करना आवश्यक है । यदि प्रतिदिन सफाई न की जा सके तो प्रति सप्ताह सफाई की जाती है । यदि ऐसा भी न बन पड़े तो प्रतिमाह, यह भी न हो सके तो दीपमालिका के प्रसंग पर सफाई की जाती है । इसी तरह मन-मन्दिर की सफाई प्रतिदिन आवश्यक है । यदि ऐसा न बन पड़े तो पक्ष में, यह भी न बन पड़े तो चातुर्मास में और यह भी संभव न हो तो इस पर्युषण पर्व में तो अवश्य ही मन एवं हृदय की सफाई कर ही लेनी चाहिए । एक भजन में कहा गया है :—

प्रेमी बन कर प्रेम से बन्दे, ईश्वर के गुण गाया कर ।
मन-मन्दिर में गाफिल, झाडू रोज लगाया कर ।।
सोने में तो रात गुजारी, दिन भर करता पाप रहा ।
इसी तरह बरबाद समय को, करता अपने आप रहा ।।
प्रातःकाल तू उठ कर बन्दे, सत्संगत में आया कर ।
प्रेमी बन कर प्रेम से बंदे, ईश्वर के गुण गाया कर ।।
मन-मन्दिर में गाफिल, झाडू रोज लगाया कर ।

उक्त भजन में यह प्रेरणा दी गई है कि प्रतिदिन अपने मन-मन्दिर की सफाई की जाय। जो बुरे विचारों का कचरा मन में इकट्ठा हो जाय उसे झाड़-बुहार कर अलग कर दिया जाय । परमात्मा के भजन-प्रसंग से मन-मन्दिर में झाडू लगाना चाहिये । संतों के समीप पहुंच कर प्रार्थना के माध्यम से दिल और दिमाग को साफ करना चाहिये । कदाचित् सदैव ऐसा न किया जा सके तो इन पर्युषण के दिनों में—जो सारी दुनियां में आनन्द की लहर दौड़ाने आये हैं-अपने विकारों की, आपसी मनोमालिन्य की सफाई कर ही लेनी चाहिये । पर्युषण पर्व का आठवां दिन विकारों पर

विजय प्राप्ति का दिन है। प्रारंभ के सात दिन विकार-विजय की तैयारी के लिये हैं। इन दिनों में आप पूर्ण तैयारी कर लें। जो गुत्थियां उलझ गई हैं, उन्हें सुलझाने की कोशिश करें। संवत्सरी के दिन तो सारा मैल धुल जाना चाहिए। तनिक भी मनोमालिन्य नहीं रहना चाहिए। इस प्रकार की भावना को लेकर प्रत्येक भाई-बहिन को पर्युषण पर्व की आराधना का आनन्द लेना चाहिये।

इस प्रकार की मंगलमय आराधना से ही आनन्द का सागर उमड़ पड़ेगा। कर्मों की भारी शिलाएं हटेंगी और आप स्वतन्त्र होकर खड़े हो सकेंगे। विकारों की शिलाओं के नीचे दवे हुए व्यक्ति को आनन्द की अनुभूति कैसे हो सकेगी? आनन्द की अनुभूति करना है तो अपने सामर्थ्य से कर्म-शिलाओं को हटाने का प्रयत्न कीजिये, कर्मों के वन्धनों से उन्मुक्त होने के लिये पुरुषार्थ कीजिये। उपवास, वेला, तेला आदि वाह्यतप और विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, प्रायश्चित्त आदि आभ्यतन्र तप की आराधना करना कर्मों की शिलाओं को ढकेलना है।

वाह्य तप के साथ आभ्यन्तर तप की आराधना भी अनिवार्यत: करनी चाहिये। उससे ही आत्मा के साथ लगे हुए कर्मों की निर्जरा होती है, कर्म के भार से आत्मा हल्की होती है। इन आठ दिनों में यह सावधानी रखनी चाहिये कि कोई नवीन कर्म आत्मा को भारी न वना दे। कर्मों के प्रवाह को रोकना चाहिये और पुराने कर्मों की निर्जरा करनी चाहिये। तभी आत्मा कर्मों से रहित होकर अपने मूल रूप को प्राप्त कर सकेगा। शास्त्रीय परिभाषा में इसे संवर और निर्जरा कहा जाता है। नवीन कर्मों का वन्धन न हो, इसे

लिये पूरा पूरा ध्यान दिया जाना चाहिये । इन आठ दिनों में न हिंसा करनी चाहिये, न झूठ बोलना चाहिये, न चोरी करनी है, न अब्रह्म का सेवन करना है, न उद्दाम धन-लालसा रखनी है, न नशीली वस्तुओं का सेवन करना है, न लड़ाई-झगड़ा करना है, न क्लेश—कलह करना है, न किसी के दिल को चोट पहुंचानी है । ये आठ दिन आत्मशक्ति के दिन हैं । इन दिनों में आत्मा का सिंहावलोकन करना चाहिये । दूसरे के दोषों को देखने से या दूसरों पर मिथ्या आरोप लगाने से सदैव बचना चाहिये ।

मिथ्या-आरोप जघन्य अपराध है :

कई अज्ञानी व्यक्ति अपने दोषों का तो विचार नहीं करते किन्तु दूसरों पर मिथ्या-दोषारोपण करते हुए नहीं शरमाते हैं। वे बिना सिर-पैर की बातें उड़ाने में ही आनंद का अनुभव करते हैं । दूसरे के हृदय में तीर चुभाने में उन्हें बड़ा मजा आता है । वे अज्ञानी यह नहीं सोचते कि इस दुष्कर्म का परिणाम बड़ा भयकर होता है । जो इस प्रकार दूसरों पर असद् आरोप लगाता है, वह जघन्य अपराध करता है । शास्त्रकारों ने इसे भयंकर पाप माना है । दूसरे के हृदय को छलनी बना देने के कारण यह भीषण हिंसा का कार्य माना गया है । तदपि कई लोग अपनी आदत से बाज नहीं आते और 'बारह हाथ की काकड़ी और तेरह हाथ का बीज' वाली कहावत चारितार्थ करते रहते हैं । ऐसे लोग समाज में विष घोलते हैं । उनसे सावधान रहना चाहिए ।

लापसी में जहर :

एक बड़ा सा गांव था । उसमें एक सेठजी ने सारे गांव को जीमने का न्यौता दिया । आजकल तो पंचायती का

वैसा महत्त्व नहीं रहा लेकिन उस समय उसका महत्त्व माना जाता था। अतः पंचों को बुलाकर उनकी आज्ञा मांगी गई। पचों ने अनुमति देते हुए कहा कि शुद्ध घी की लापसी वनाना और मन में १६ सेर घो डालना। आज्ञानुसार रसोई वनाई गई और सव दूर मेहमानों सहित सिगरी न्यौता दिला दिया। सव लोग जीमने जाने की तैयारी करने लगे। वाल-वच्चों को और मेहमानों को साथ लेकर जीमने जाने के लिये पूरी तैयारी हो रही है।

भाइयो, जैसी तैयारी लापसी जीमने के लिये की जा रही है, वैसी तैयारी इस धार्मिक भवन में आध्यात्मिक जीमन जीमने के लिये की जाती है क्या? यहां जो भोजन परोसा जाता है उसे जीमने के लिये अकेले-अकेले आते हैं या वाल-वच्चों और मेहमानों को भी साथ लाते हैं? यह भोजन भी उतना ही रुचता है क्या, जितनी शुद्ध घी की लापसी रुचती है? ध्यान रखिये, लापसी का जीमन क्षणिक है। मैं जो भोजन परोस रहा हूँ वह स्थायी है। वह आपकी भूख को सदा के लिये शान्त करने वाला है। वह ऐसी तृप्ति करने वाला है कि फिर कभी भी भूख की वेदना ही न रहे। अतएव इस आध्यात्मिक भोजन में भी उतनी ही रुचि होनी चाहिए। अस्तु।

गांव में लापसी जीमने की तैयारी चल रही है। इधर एक सेठ वीमार था। लापसी का नाम सुनकर उसके मुंह में पानी आ गया। वह भी लापसी जीमने के लिये उत्सुक वना परन्तु उसके वैद्यराज जी का इलाज चल रहा था। उसने वैद्य जी से पूछने का विचार किया कि गुड़ की

लिये पूरा पूरा ध्यान दिया जाना चाहिये । इन आठ दिनों में न हिंसा करनी चाहिये, न झूठ बोलना चाहिये, न चोरी करनी है, न अब्रह्म का सेवन करना है, न उद्दाम धन-लालसा रखनी है, न नशीली वस्तुओं का सेवन करना है, न लड़ाई-झगड़ा करना है, न क्लेश–कलह करना है, न किसी के दिल को चोट पहुंचानी है । ये आठ दिन आत्मशक्ति के दिन हैं । इन दिनों में आत्मा का सिंहावलोकन करना चाहिये । दूसरे के दोषों को देखने से या दूसरों पर मिथ्या आरोप लगाने से सदैव बचना चाहिये ।

मिथ्या-आरोप जघन्य अपराध है :

कई अज्ञानी व्यक्ति अपने दोषों का तो विचार नहीं करते किन्तु दूसरों पर मिथ्या-दोषारोपण करते हुए नहीं शरमाते हैं। वे बिना सिर-पैर की बातें उड़ाने में ही आनंद का अनुभव करते हैं । दूसरे के हृदय में तीर चुभाने में उन्हें बड़ा मजा आता है । वे अज्ञानी यह नहीं सोचते कि इस दुष्कर्म का परिणाम बड़ा भयकर होता है । जो इस प्रकार दूसरों पर असद् आरोप लगाता है, वह जघन्य अपराध करता है । शास्त्रकारों ने इसे भयंकर पाप माना है । दूसरे के हृदय को छलनी बना देने के कारण यह भीषण हिंसा का कार्य माना गया है । तदपि कई लोग अपनी आदत से बाज नहीं आते और 'बारह हाथ की काकड़ी और तेरह हाथ का बीज' वाली कहावत चारितार्थ करते रहते हैं । ऐसे लोग समाज में विष घोलते हैं । उनसे सावधान रहना चाहिए ।

लापसी में जहर :

एक बड़ा सा गांव था । उसमें एक सेठजी ने सारे गांव को जीमने का न्यौता दिया । आजकल तो पंचायती का

वैसा महत्त्व नहीं रहा लेकिन उस समय उसका महत्त्व माना जाता था। अतः पंचों को बुलाकर उनकी आज्ञा मांगी गई। पचों ने अनुमति देते हुए कहा कि शुद्ध घी की लापसी बनाना और मन में १६ सेर घी डालना। आज्ञानुसार रसोई बनाई गई और सब दूर मेहमानों सहित सिगरी न्यौता दिला दिया। सब लोग जीमने जाने की तैयारी करने लगे। बाल-बच्चों को और मेहमानों को साथ लेकर जीमने जाने के लिये पूरी तैयारी हो रही है।

भाइयो, जैसी तैयारी लापसी जीमने के लिये की जा रही है, वैसी तैयारी इस धार्मिक भवन में आध्यात्मिक जीमन जीमने के लिये की जाती है क्या? यहां जो भोजन परोसा जाता है उसे जीमने के लिये अकेले-अकेले आते हैं या बाल-बच्चों और मेहमानों को भी साथ लाते हैं? यह भोजन भी उतना ही रुचता है क्या, जितनी शुद्ध घी की लापसी रुचती है? ध्यान रखिये, लापसी का जीमन क्षणिक है। मैं जो भोजन परोस रहा हूँ वह स्थायी है। वह आपकी भूख को सदा के लिये शान्त करने वाला है। वह ऐसी तृप्ति करने वाला है कि फिर कभी भी भूख की वेदना ही न रहे। अतएव इस आध्यात्मिक भोजन में भी उतनी ही रुचि होनी चाहिए। अस्तु।

गांव में लापसी जीमने की तैयारी चल रही है। इधर एक सेठ बीमार था। लापसी का नाम सुनकर उसके मुंह में पानी आ गया। वह भी लापसी जीमने के लिये उत्सुक बना परन्तु उसके वैद्यराज जी का इलाज चल रहा था। उसने वैद्य जी से पूछने का विचार किया कि गुड़ की

लापसी खाने में कोई हर्ज तो नहीं है ? संयोग से वैद्य जी उधर ही आ निकले। वे जरूरी काम होने से जल्दी में थे तो भी सेठ ने उन्हें रोक कर पूछ ही लिया। वैद्य जल्दी में थे अतः 'लापसी तो जहर है' कह कर वे चले गये। सेठ ने सोचा—'लापसी में जहर है, खाऊंगा तो मर जाऊंगा। परिवार वालों को क्योंकर भेजूं ?' उसने परिवार वालों को कह दिया -'चुपचाप घर में बैठ जाओ, जीमने मत जाओ, लापसी में जहर है'। उन्होंने कहा—'हम तो नहीं जायेंगे परन्तु बहिन बेटियां और सगे सम्बन्धी जाएंगे तो उनका क्या होगा ?' सेठ ने कहा - 'चुपचाप उनको भी सूचना कर दो।' उनको सूचना दे दी गई। उन्होंने अपने मिलने-जुलने वाले और सगे-सम्बन्धियों को सूचना कर दी कि लापसी में जहर है, जीमने मत जाना।'

सारे गांव में सनसनी फैल गई। कोई जीमने नहीं गया। सेठ ने सोचा कि, 'क्या बात हो गई है ? लोग जीमने क्यों नहीं आ रहे हैं ? उसने खास खास लोगों को बुलावा भेज़ा। फिर भी कोई नहीं आया। सेठ को बड़ा विचार हुआ कि 'मेरा क्या अपराध हो गया है, जो लोग जीमने नहीं आ रहे हैं ?' उसने जाजम बिछा कर पंचों को बुलाया और उनसे पूछा कि बात क्या है, लोग जीमने क्यों नहीं आ रहे हैं ? सब एक दूसरे का मुंह देखने लगे। उनमें से एक समझदार व्यक्ति ने कहा कि क्यों इसे तंग करते हो, जो बात हो, स्पष्ट क्यों नहीं कहते ?

तब पंचों ने कहा—'ज्ञात हुआ है कि बनी हुई लापसी में जहर डाला गया है।'

सेठ ने कहा, 'कैसा जहर ? कौन कहता है कि लापसी में जहर है ? पंचों ने कहा, 'हमने प्रामाणिक व्यक्तियों से सुना है।'

सेठ—यह बात आपने किससे सुनी ? मैंने तो जहर डलवाया नहीं है। आप इसकी जांच कीजिये।

पंच—यदि तुम को पक्का विश्वास है कि इसमें जहर नहीं है तो पहले तुम जीम लो। फिर सब जीमने आ जाएंगे।

सेठ ने सोचा—मैंने तो लापसी में विष मिलाया नहीं है परन्तु यदि किसी अन्य दुष्ट ने ऐसी हरकत कर दी हो तो क्या मालूम ? अतः वह पहले जीमने में आनाकानी करने लगा।

इससे पंचों को सन्देह हो गया कि अवश्य दाल में काला है। उन्होंने रसोइये को पूछा कि क्या लापसी में जहर है ?

वह कहने लगा, 'नहीं साहब, कौन कहता है कि लापसी में जहर है ?'

उससे भी कहा गया कि यदि ऐसा है तो तुम पहले जीम लो। रसोइया सोचने लगा—संभव है, मैं इधर-उधर चला गया होऊं, तब किसी ने जहर मिला दिया होगा तो मैं फिजूल ही मारा जाऊं। अतः उसने भी पहले जीमने से इन्कार कर दिया।

पंचों का सन्देह बढ़ता गया। सेठ का मुंह [illegible]
गया। उसने सोचा—गजब हो गया। सारा [illegible]

गुड़ गोबर हो गया। हजारों का खर्च बेकार हुआ। आखिर कुछ समझदार व्यक्तियों ने पूछताछ शुरु की कि यह बात कहां से उठी है ? जिससे पूछा गया, वह कहने लगा कि मुझे तो अमुक व्यक्ति ने कहा। उससे पूछा गया तो उसने दूसरे का नाम बताया। दूसरे ने तीसरे का नाम बताया। यों बात पहुंची उस बीमार सेठ तक।

उस सेठ को बुला कर पूछा गया कि क्या आपने कहा था कि लापसी में जहर है ? उसने कहा—हां, कहा था।

'तो क्या आपने जहर डालते देखा था ?'

'नहीं ! वैद्य जी ने कहा था कि लापसी में जहर है।'

उन्होंने सोचा कि सम्भव है जहर की पुड़िया वैद्यजी के यहां से गई हो। उन्हें बुला कर पूछने से पता लग सकेगा। वैद्य जी से पूछा गया कि आपके यहां से जहर की पुड़िया गई है क्या ?

वैद्य जी ने कहा -'मेरे यहां से तो जहर की पुड़िया नहीं गई।'

'तब आपने सेठजी को कैसे कहा कि लापसी में जहर है ?'

वैद्य जी हंसने लगे। उन्होंने कहा, सेठजी के मेरी दवाई चल रही थी; उस दवाई पर गुड़, तेल, खटाई खाने की मनाही है। इसलिये जब सेठजी ने मुझे लापसी खाने को पूछा तो मैंने कहा कि 'आपके लिये लापसी में जहर है।' लापसी में गुड़ है, इसलिये उनको खाने को मनाही की थी।

पंचों ने कहा कि वैद्य जी ! आपको विश्वास है कि लापसी में जहर नहीं है तो आप पहले जीभ लीजिए। वैद्य जी ने सोचा कि मेरे यहां से विष की पुडिया गई नहीं है और न इस प्रकार की कोई संभावना ही है। व्यर्थ की बात चल पड़ी है। इसलिए वैद्य जी ने पहले भोजन कर लिया। फिर सब लोगों ने लापसी का भोजन किया।

बन्धुओ ! ऐसी व्यर्थ की बातें नहीं करनी चाहिए। किस प्रसंग से कौनसी बात कही गई है, इसका पहले निर्णय कर लेना चाहिए। व्यर्थ की बातें बना कर दूसरे के कलेजे में तीर नहीं चुभाने चाहिए। जो लोग ऐसा करते हैं उनके चिकने कर्मों का बंध होता है। सहज में उन कर्मों से छुटकारा नहीं हो सकता। अतएव उनको चाहिए कि इन पर्व दिनों में सब इस प्रकार के आश्रवों से बचें।

आश्रव को रोकिये :

भाइयो ! आत्मा की स्वच्छता के लिये यह आवश्यक है कि पहले आश्रव के द्वारों को रोका जाय। मान लीजिये, एक स्वच्छ जल का कुंड है लेकिन उसमें गटर की नाली का गंदा पानी मिल रहा है। आप उसकी सफाई करना चाहते हैं तो पहले उस गटर की नाली को रोकना होगा। जब तक वह नाली गंदा पानी कुंड में डालती रहेगी, तब तक कुंड की सफाई नहीं हो सकती। ऐसे ही जब तक पापों के आश्रव-द्वारों को बद नहीं करेंगे तब तक आत्मा को स्वच्छ करने का प्रयास निरर्थक होगा। यह आध्यात्मिक सप्ताह—यह पर्युषण पर्व आया है, इसमें आप पाप के

नालियों को रोकिये । वैर-विरोध को भूल जाइये । सब जीवों के साथ मैत्रीभाव रखिये । अन्तःकरण के विकारों को हटाइये । मन की मलिनता को धो डालिये । हृदय को साफ सुथरे दर्पण के समान स्वच्छ बना लीजिये । ऐसा करने से आत्मा पर पड़ी हुई पाप कर्मों की शिलाएं हट जाएंगी और आप एक अनूठा हलकापन महसूस करेंगे । आपकी आत्मा उज्ज्वल बनेगी और तब आपको अपूर्व आनंद की अनुभूति हो सकेगी । आप अपने विवेक से संसार के पदार्थों की असारता को समझिये और आत्मा की अलौकिक विभूति के दर्शन कीजिये । आप सांसारिक पदार्थों से मोह को हटाने का प्रयत्न करेंगे तो ही आपको अखूट वैभव के दर्शन हो सकेंगे । इस सम्बन्ध में एक ऐतिहासिक प्रसंग प्रेरणादायक है । वह इस प्रकार है :-

द्विमुख महाराजा की विरक्ति :

महाराजा जयवर्धन कम्पिलपुर में भव्य व्यवस्था के साथ राज्य कर रहे थे । उनके सात पुत्र और एक कन्या थी, जिसका नाम मदनमंजरी था । नाम के अनुसार ही उसने रूप पाया था । सात भाइयों के बीच एक बहिन हो तो उसके प्रति कितना आह्लाद भाव होता है । आज की स्वार्थमयी दुनियां में भले ही ऐसा न हो परन्तु उस समय यह अत्यन्त प्रसन्नता की बात मानी जाती थी । आज तो दस भाइयों के बीच एक बहिन हो, वह भी भार रूप प्रतीत होती है । यह दुःख का विषय है और स्वार्थ की पराकाष्ठा है । मदनमंजरी सात भाइयों के बीच बड़े आनन्द में रह रही थी ।

एक दिन महाराजा जयवर्धन राजसभा में बैठे हुए थे । उनका दूत देशाटन करके आया था । महाराजा ने उसे

पूछा कि अन्य देशों में तुमने क्या सुना ? क्या देखा ? दूत ने कहा—महाराज ! सर्वत्र आपकी प्रशंसा हो रही है।

महाराज बोले - मैं अपनी तारीफ नहीं सुनना चाहता। मैं यह जानना चाहता हूँ कि तुमने क्या अनोखी वस्तु देखी है ?

दूत बोला 'वत्स देश के राजा शतानीक ने अपने राज्य में बहुत सी चित्रशालाएं बना रखी हैं। वे बड़ी सुन्दर और रमणीय हैं। अपने राज्य में भी ऐसी सुन्दर चित्र-शाला होनी चाहिये।

महाराज ने आदेश दिया कि ऐसी चित्रशाला का निर्माण किया जाय जो अद्भुत हो, जिसकी सानी की कोई दूसरी चित्रशाला न हो। अद्वितीय चित्रशाला के निर्माण का कार्य आरम्भ कर दिया गया। संयोगवश नींव खोदते समय एक ऐसा मुक्ता निकला जो अद्वितीय और असाधारण था। उस को साफ करके जब महाराजा ने अपने हृदय पर धारण किया तो उसमें महाराजा के दो मुख प्रतिबिम्बित हुए। इस घटना को लेकर जयवर्धन महाराज का नाम द्विमुख पड़ गया। उनकी देश-विदेश में प्रशंसा होने लगी।

उज्जयिनी के सम्राट चण्डप्रद्योतन को जब इस मुक्ता के विषय में मालूम हुआ तो वह उसे पाने के लिये ललचा उठा। उसने द्विमुख महाराज के पास दूत भेज कर कहलाया कि वह मुक्ता आप चण्डप्रद्योतन राजा को दे दीजिये। महा-राजा द्विमुख ने कहा कि 'मांगने से कोई वस्तु नहीं मिला करती। उसकी कीमत चुकानी पड़ती है। यदि तु

राजा अपनी महारानी, रथ और हाथी मुझे दें तो मैं यह मुक्ता उन्हें दे सकता हूँ।'

दूत मुंह बिगाड़ता हुआ चला गया। राजा चण्डप्रद्योतन को उसने सारी बात कही। राजा चण्डप्रद्योतन क्रोध के मारे आग उगलने लगा। उसने बहुत बड़ी सेना लेकर द्विमुख महाराज पर आक्रमण कर दिया।

जयवर्धन राजा ने सोचा कि मुझे आक्रान्ता नहीं बनना है किन्तु आक्रमण का मुकाबिला कर आक्रान्ता को हटाना है। उन्होंने अपनी सेना सजाई और चण्डप्रद्योतन को परास्त कर बंदी बना लिया।

राजा चण्डप्रद्योतन जेल में बंद था। उसको खाने-पीने की सारी सुविधाएं दी जा रही थीं परन्तु परतंत्रता का दुःख उसे पीड़ित कर रहा था। वह जेल में बैठा हुआ तिलमिला रहा था।

एक दिन राजा चण्डप्रद्योतन जहां बन्द था, उसकी ऊपरी मंजिल पर वह घूम रहा था कि उसकी दृष्टि अचानक राजमहल के झरोखे में बैठी हुई राजकन्या पर पड़ी। वह देख कर मोहित हो गया। उसके मन में संकल्प-विकल्प चलने लगे। हालांकि वह जेल में बंद था तदापि वह उस राजकन्या के प्रति अति आसक्त बन गया। उसकी भूख मन्द पड़ गई, प्यास जाती रही, शरीर सूखने लगा, मुख कुम्हलाने लगा। महाराजा जयवर्धन यदा-कदा उसे संभालने और देखने आया करते थे। एक दिन महाराजा जेल में पहुंचे और उन्होंने चण्डप्रद्योतन की यह दुर्दशा देखी।

उन्होंने चण्डप्रद्योतन से पूछा कि राजन् ! तुम्हारी यह अवस्था क्यों हो गई है ? क्या जेल में खान-पान की समुचित व्यवस्था नहीं है ? कोई रोग उत्पन्न हो गया है क्या ? आपको क्या चिन्ता सता रही है ।

चण्डप्रद्योतन के नेत्र शर्म से झुक गये । वह जमीन कुरेदते हुए बोला—राजन् ! क्या कहूँ ? मन की बात कहना निरर्थक है क्योंकि उसकी पूर्ति होने की कोई संभावना नहीं है ।

जयवर्धन - राजन् ! मैं अनीति का प्रतिकार करने वाला हूँ । आक्रांता को हटाने में मैं वज्र सरीखा कठोर हूँ परन्तु दुखियों को देख कर फूल के समान कोमल बन जाता हूँ । आप अपने मन की बात कहिये, मैं यथाशक्ति उसे पूर्ण करने का प्रयत्न करूंगा ।

चण्डप्रद्योतन ने कहा, 'क्या बताऊं राजन् ! कह नहीं पा रहा हूँ और कहे बिना कोई दूसरा चारा भी नहीं है । आपके राजभवन में राजकन्या को देख कर मेरा मन डांवाडोल हो गया है और इसी कारण से मेरी दुर्दशा हो गई है ।

महाराजा जयवर्धन सोचने लगे कि–'राजा चण्डप्रद्योतन उज्जयिनी के नरेश हैं, शक्तिसम्पन्न हैं लेकिन इनकी नीति ठीक नहीं थी । भौतिक सुख साधन सामग्री की कोई कमी नहीं है । यह केवल अपने जीवन को ठीक–ठीक संभाल नहीं पाया है । यदि यह अपनी दुर्नीति का परित्याग कर दे, यदि यह अपना परिमार्जन कर ले तो राजकन्या का

विवाह इनके साथ करने में कोई बाधा नहीं रहती ।'

उन्होंने चण्डप्रद्योतन से कहा 'राजन् ! यदि आप अपनी आक्रान्ता नीति छोड़ दें, यदि आप भविष्य में किसी पर आक्रमण न करने की प्रतिज्ञा करें तो मैं राजकन्या का विवाह आपके साथ कर सकता हूँ ।

चण्डप्रद्योतन ने ऐसा प्रण किया और महाराजा ने उसे जेल से मुक्त कर बड़ी उमंग के साथ मदनमंजरी का विवाह उसके साथ कर दिया । हथलेवा छुड़ाते समय उज्जयिनी का राज्य उसे लौटा दिया । उसे पुनः राज्याधिपति नरेश बना दिया ।

महाराजा द्विमुख ने इस विवाह के उपलक्ष्य में राष्ट्रीय-स्तर पर इन्द्र-महोत्सव मनाने का आयोजन किया । एक सप्ताह तक महोत्सव चलता रहा । इस अवसर पर एक इन्द्र-ध्वज बनाया गया । लकड़ियों के स्तंभों से उसे खूब सजाया गया था । अनेक राजा-महाराजाओं को आमंत्रित किया गया था । बड़े ठाठ-बाठ से राजकीय महोत्सव मनाया गया । महोत्सव की सानन्द समाप्ति हुई । सब अपने-अपने स्थान पर चले गये । इन्द्रध्वज की सजावट उतर चुकी थी । सजावट के काम आई हुई लकड़ियां अब अस्त व्यस्त इधर उधर पड़ी हुई थीं ।

एक दिन महाराजा द्विमुख उधर से होकर घूमने निकले । उन्होंने वे लकड़ियां अस्तव्यस्त अवस्था में देखीं । उन्होंने मंत्री से पूछा । मंत्री ने कहा—'स्वामिन् ! महोत्सव के समय जो इन्द्रध्वज बनाया गया था उसकी सजावट में

इनका प्रयोग किया गया था।" महाराजा को विचार आया—अहो! ये लकड़ियाँ उस दिन कितनी रमणीय और सुन्दर प्रतीत हो रही थीं और अब ये कैसी अस्तव्यस्त सी लग रही हैं। अहो! मेरे जीवन की दशा भी इसी प्रकार परिवर्तित हो सकती है। मैं अभी वस्त्राभूषण से अलंकृत होकर सुन्दर लग रहा हूँ परन्तु कभी मेरी दशा में भी परिवर्तन आ सकता है। अतएव मुझे अभी से सावधान हो जाना चाहिये और ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि मेरा शाश्वत सौन्दर्य कायम रहे। शारीरिक सौन्दर्य परिवर्तनशील और क्षणभंगुर है। मुझे आत्मिक सौन्दर्य को प्राप्त करना है जो शाश्वत है।"

ऐसा विचार कर महाराजा द्विमुख राज्य को छोड़कर विरक्त बन गये। वे आत्मसाधना के मार्ग पर चल पड़े। उन्होंने अपनी आत्मा को स्वाभाविक सद्गुणों से सजाया। उन्होंने शाश्वत सौन्दर्य को पा लिया। वे कर्मों के बन्धनों से मुक्त हो गये।

द्विमुख महाराज की विरक्ति हमारे सामने आदर्श के रूप में उपस्थित है। उससे हमें प्रेरणा लेनी चाहिये और अपनी आत्मा को भी शाश्वत सौन्दर्य से समलंकृत करना चाहिये।

तीन प्रकार की मक्खियां :

आप जानते हैं कि संसार में मक्खियों के कई प्रकार हैं किन्तु मुख्यतया तीन प्रकार की मक्खियां पाई जाती हैं। एक मक्खी का स्वभाव होता है कि वह नासिका के श्लेष्म पर ही बैठती है। उस श्लेष्म में न तो मिठास है और न सुगंध ही, तदपि वह मक्खी बार बार वहां

भी मैल पर ही बैठती है । उसमें फंस कर वह तड़फ-तड़फ कर मर जाती है परन्तु उस श्लेष्म पर बैठना वह नहीं छोड़ती । दूसरी मक्खी स्वभावत: शहद पर ही बैठती है । वह शहद के मिठास पर ललचाती है और उस पर बैठती है । शहद का मिठास लेते लेते वह मक्खी उसमें फंस जाती है और अपने प्राणों को गंवा बैठती है । इन दोनों प्रकार की मक्खियों में स्वतंत्र रूप से उड़ने की शक्ति होती है परंतु आसक्ति के कारण ये उनमें लिप्त होकर अपनी जिन्दगी बरवाद कर देती हैं ।

एक तीसरे प्रकार की मक्खी होती है जो मिश्री की डली पर बैठती है । वह उस डली पर बैठ कर मिठास का आस्वादन करती है लेकिन जरा सी आहट या ठेस लगते ही मिश्री का मोह छोड़ कर आकाश में उड़ जाती है ।

इन तीनों प्रकार की मक्खियों में से कौन सी मक्खी आप की दृष्टि से उत्तम है ? जो मिठास लेकर उड़ जाय वह उत्तम है या मैल या शहद में फंस कर मर जाय, वह अच्छी है ? आप सहज ही कह देंगे कि मिठास लेकर उड़ जाने वाली मक्खी अच्छी है ।

बन्धुओ ! मक्खियों के इस रूप को मानवों पर घटित कर शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये । अधिकांशत: मानव मैल की मक्खी की तरह संसार के विषय-कषायों में फंस कर अपने जीवन को बर्बाद कर रहे हैं । वे भिखमंगों की तरह इधर-इधर भटकते रहेंगे किन्तु त्यागमार्ग की ओर लगने की भावना उनमें जागृत नहीं होती । वे संसार के दुखों में फंस कर अपने जीवन को नष्ट कर डालते हैं ।

संसार के नाटक बड़े विचित्र हैं। हमें तरह तरह के सांसारिक दुःखों के किस्से सुनने को मिलते हैं। सांसारिक जन अपना दुखड़ा हमें सुनाते हैं। उनकी दयनीय दशा पर हमें तरस आता है। फिर भी वे लोग संसार के मायाजाल में फंसे रहते हैं। उनमें इतना सामर्थ्य नहीं जागता कि वे मायाजाल को छोड़ कर निवृत्ति के मार्ग पर आ जावें। कोई विरले ही व्यक्ति त्यागमार्ग के पथिक बनते हैं।

कई चक्रवर्ती सम्राट और धन वैभव से सम्पन्न व्यक्ति शहद की मक्खी की तरह सांसारिक पदार्थों का आनन्द लेने जाते हुए उनमें फंस कर आसक्त होकर मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। वे अन्त समय में हाय हाय करते रहे लेकिन विषयों के कीचड़ से ऊपर न आ सके।

मिश्री की मक्खी की तरह थे धन्ना और शालिभद्र। इनकी ऋद्धि-समृद्धि का कोई पार नहीं था तदपि समय आते ही ये आत्मसाधना के लिये निकल पड़े। वर्तमान में भी अनेक संत-सतीजी ऐसे हैं जो सांसारिक मायाजाल को छोड़ कर संयम-मार्ग की निर्मल आराधना कर रहे हैं। आप भी मिश्री की डली पर बैठने वाली मक्खी से प्रेरणा लें और संसार के मायाजाल में आसक्त न होते हुए आत्म-साधना के पथ पर अग्रसर बनें।

पर्युषण पर्व के प्रसंग से आपको आत्म-साधना का सुन्दर अवसर प्राप्त हुआ है। मैं देशनोक की जनता को सम्बोधित कर कहना चाहता हूँ कि पर्युषण की त्रिवेणी में अवगाहन कर अपनी आत्मा के मैल को धो डालिये। किसी

भी जाति, पंथ, मजहब व्यवसाय का भेद यहां नहीं है। गंगा सबके लिये पवित्र है। इसी तरह पर्युषण केवल जैनों के लिये ही नहीं है, सब प्राणियों के लिये है। सब प्राणी इसकी आराधना करके आत्मकल्याण के अधिकारी हो सकते हैं। इन आठ दिनों में आप सप्त व्यसनों का त्याग करें, झूठ छल-कपट-फरेब से बचिये, किसी प्राणी के मन को न दुखावें। यदि कभी ऐसा प्रसंग आ जाय तो उससे तत्काल क्षमा याचना कीजिये। आप इस प्रकार अपने जीवन को शुद्ध स्वच्छ बनाने का प्रयास करेंगे तो आपको अलौकिक आनन्द की अनुभूति हो सकेगी और देशनोक ग्राम धन्य हो जायगा।

यह देशनोक ग्राम देश की नाक है। इसके अनुरूप ही यहां धर्माराधना हो रही है और होती रहेगी, ऐसी आशा है। आप अपने जीवन को इस पावन प्रसंग से निर्मल बनाने की दिशा में प्रयत्नशील बनें। यही मेरी भावना है।

स्वयं का दायित्व :

मेरा काम उपदेश देना है, मार्ग बताना है परन्तु उस पर चलना तो आपका स्वयं का काम है। यह आपका दायित्व है कि अपना उद्धार स्वयंमेव करें।

एक व्यक्ति कमरा बंद कर रजाई ओढ़े सो रहा है। वह आंखों पर पट्टी बांध लेता है और फिर चिल्लाता है कि इस कपड़े ने मेरी आंखें बांध दी हैं, रजाई ने मुझे ढक लिया है, कोई आकर मुझे बचाओ। अन्दर से सांकल लगी हुई है। दूसरा व्यक्ति अन्दर नहीं जा सकता। बाहर से कोई

व्यक्ति उसे सुझाव देता है कि अरे भाई ! तुमने अन्दर से सांकल लगा रखी है, रजाई तुमने ओढ रखी है, आंखों पर पट्टी तुमने बांध रखी है । अपने हाथों से ही पट्टी ढीली कर लो, रजाई फेंक दो, अन्दर की सांकल खोल दो, बाहर की हवा लो, स्वयमेव तुम मुक्त हो जाओगे । वह कहता है कि मैं तो यह सब नहीं कर सकता, आप ही मेरी मदद कीजिये। ऐसे व्यक्ति के विषय में आप क्या सोचेंगे ? यही न कि वह मूर्ख है । ठीक इसी तरह अपने-अपने कर्मों के आवरण को हम स्वयंमेव हटाने में समर्थ हैं, दूसरा कोई नहीं। दूसरा व्यक्ति केवल निमित्त बन सकता है । मूल काम तो हमें स्वयं ही करना है । जिसने कर्म बांधे हैं, वही उन्हें तोड़ने की भी क्षमता रखता है । आप अनन्त शक्तिशाली हैं, आप में अनन्त पौरुष है । आवश्यकता है केवल उसे प्रकट करने की । अतएव अपना उद्धार अपने ही हाथों में है ।

उद्धरेदात्मनात्मानम्

—गीता

अपने उद्धार का दायित्व हमारा ही है, अन्य किसी का नहीं ।

उपसंहार :

आत्मतत्त्व के अन्दर झांककर देखिये । वहां आपको अनन्त सुख का महासागर लहराता हुआ दिखाई देगा । आत्मा के अन्दर गहराई में जाइये। वहां आपको शाश्वत सौन्दर्य के दर्शन होंगे, वहां आपको ज्ञान-दर्शन-सुख और शक्ति का अक्षय कोष प्राप्त होगा । आप जरा बाहर से हट

कर अन्दर देखना सीखो। बाह्य दृष्टि हटते ही आपको उस विराट स्वरूप के दर्शन होंगे जो अपने आप में अनूठा है। प्रार्थना की कड़ियों में भी यही संकेत किया गया है :—

श्री जिनराज सुपार्श्व पूरो आश हमारी।

सुपार्श्वनाथ प्रभु से भक्त यही कामना करता है कि प्रभो, मेरी आशा को पूर्ण करो। भक्त की आशा क्या होती है ? बाह्य पौद्गलिक पदार्थों की आशा करने वाला भक्त नहीं है। वह तो सौदागर है। भक्त तो सर्वस्व समर्पण करता है। वह केवल यही कामना करता है कि हे प्रभो ! तुम से जो मेरी दूरी है वह दूर हो ! मैं और तुम एका-कार हो जावें ! यही सच्चे भक्त की आशा होती है।

आप भी सांसारिक पदार्थों से ममता हटा कर आत्मा को देखें, उसकी अनन्त शक्तियों को पहचानें और प्रबल पुरुपार्थ द्वारा उस मंगलमय स्वरूप को प्राप्त करने का प्रयास करें। आत्मा के शाश्वत सौन्दर्य का आनन्द लें। यही पर्युषण पर्व का प्रेरक संदेश है।

देशनोक
२-६-७५

अन्तर्दृष्टि का उद्घाटन

जय जय जगतशिरोमणि, हूँ सेवक ने तू धणी।
अब तोसूं गाढी बणी, प्रभु आशा पूरो हम तणी।।
मुझ पर मेहर करो, चन्द्रप्रभु जगजीवन अंतरजामी।
भव दुःख हरो, सुणिये अरज त्रिभुवन स्वामी।।

यह चन्द्रप्रभु परमात्मा की प्रार्थना है। जिसकी शरद की ज्योत्स्ना के समान उज्ज्वल यशोराशि अखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्त है, इस विशाल ब्रह्माण्ड से परे जिसने अनन्त आकाश को छुआ है, ऐसे परमात्मा को कवि ने जगत्-शिरोमणि के नाम से सम्बोधित किया है। जगत् के सिर पर अर्थात् लोक के अग्रभाग पर स्थित सिद्ध क्षेत्र की मणि के रूप में परमात्मा का स्मरण किया गया है। वह परमात्मा लोक के सर्वोच्च स्थान पर विराजमान हैं अतएव जगत् शिरोमणि हैं। इतना ही नहीं उन परमात्मा ने आत्मा की सर्वोच्च स्थिति को प्राप्त कर लिया है, इसलिये वे जगत्-शिरोमणि हैं, जगत् के नाथ हैं। उन परमात्मा के सर्वोत्कृष्ट निर्मल केवल ज्ञान रूपी दर्पण में समग्र चराचर विश्व सम्पूर्ण सूक्ष्म-वादर पदार्थ प्रतिविम्बित होते हैं। उनकी ज्ञान-दर्शनमय

सारे लोकालोक में व्याप्त होती हैं। उसमें सम्पूर्ण जगत्-समाविष्ट हो जाता है। परमात्मा का स्वरूप विराट है। उस विराट स्वरूप का चिन्तन सर्वसाधारण व्यक्ति नहीं कर पाता। अतएव साधक भक्त अपनी क्षमता के अनुसार अपनी अल्पबुद्धि के अनुसार परमात्मा के अलग-अलग गुणों को लेकर अलग-अलग रूप में अपनी भावना व्यक्त करता है।

ससीम और असीम :

मनुष्य का मस्तिष्क सीमित है, सोचने की क्षमता अधूरी है और वह भी अनुभूतिपूर्वक प्राप्त की हुई नहीं है। अपूर्ण और सीमित शक्ति वाला मानव परिपूर्ण, असीम और अनुभवगम्य परमात्मा का चिन्तन भली-भांति नहीं कर पाता। मानव ससीम है, परमात्मा असीम है। मानव अपूर्ण है, परमात्मा पूर्ण है। मानव विन्दु है, परमात्मा सिन्धु है। मानव देश-काल की मर्यादाओं में आबद्ध है, परमात्मा सर्व-तंत्र स्वतंत्र है। मानव क्षुद्र है, परमात्मा विराट है। मानव स्थूल दृष्टि वाला है परमात्मा सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुभव-गम्य है। ऐसी स्थिति में परमात्मा का यथावत् निरूपण करना मानव की शक्ति से परे है। इसीलिये आचारांग सूत्र में कहा गया है :—

'सव्वे सरा नियट्टन्ति'...... ....
'तक्का तत्थ न विज्जइ'...........

—आचारांग

शब्दों में यह सामर्थ्य नहीं कि वे परमात्मा के सम्पूर्ण स्वरूप को व्यक्त कर सकें। वहाँ शब्दों की गति नहीं है।

सव स्वर शान्त हो जाते हैं। तर्क की वहां पहुंच नहीं है। छद्मस्थ की बुद्धि उसे यथार्थ रूप में ग्रहण नहीं कर सकती। विकल्पों का वह विषय नहीं। इसी बात को वैदिक ग्रन्थों में भी इसी तरह प्रतिपादित किया गया है :—

'नेति नेति सब वेद पुकारें'

परमात्मा का स्वरूप 'ऐसा नहीं है,' 'ऐसा नहीं है' इस रूप में ही व्यक्त किया जा सकता है। 'वह कैसा है' वह विषय शब्दों और विकल्पों की परिधि से बाहर है। वह केवल अनुभवगम्य है। गूंगा व्यक्ति गुड़ के स्वाद का अनुभव कर सकता है परन्तु उस स्वाद के स्वरूप का कथन नहीं कर सकता है। यही बात परमात्मा के यथावत् स्वरूप के निरूपण के सम्बन्ध में समझनी चाहिए।

अन्तरंग दृष्टि की आवश्यकता :

स्थूल दृष्टि से स्थूल पदार्थों को देखा जा सकता है। जो पदार्थ सूक्ष्म हैं, अतीन्द्रिय हैं तथा क्षेत्र एवं काल से अन्तरित (व्यवहित) हैं, उन्हें हमारी स्थूल दृष्टि नहीं जान पाती। चमड़े की आंखें उन्हें नहीं देख पातीं। उन्हें देखने के लिये अन्तरंग दृष्टि की आवश्यकता रहती है। स्थूल नेत्र स्थूल चीजों का साक्षात्कार कर सकते हैं, वे इन्द्रियातीत तत्त्वों को जानने में असमर्थ हैं। जगत् शिरोमणि परमात्मा अतीन्द्रिय है, अतएव उसे जानने के लिये अन्तरंग दृष्टि की अपेक्षा होती है। जिस आत्मा के अन्तःकरण में सम्यक्त्व भाव का उदय हुआ है, समभाव के धरातल पर ि स चिन्तन चल रहा है, शुभ-अशुभ का विवेक जहां जागृ

चुका है, उसको अन्तरंग दृष्टि प्राप्त हो जाती है, उसके हृदय के नेत्र खुल जाते हैं, उसको आभ्यन्तर दिव्य नेत्रों की उपलब्धि हो जाती है। इस आभ्यन्तर दिव्य दृष्टि से वह परमात्मा को, जगत् को और स्वयं के चरम एवं परम लक्ष्य को देखने का प्रयत्न करता है और क्रमशः इस दिशा में आगे बढ़ता हुआ अपने लक्ष्य को प्राप्त भी कर लेता है।

समदृष्टि के नौ नेत्र :

स्थूल शरीर में साधारणतया दो ही नेत्र होते हैं लेकिन जब अन्तर-आत्मा में समभाव की जागृति होती है तो उसे आन्तरिक नौ नेत्रों की उपलब्धि हो जाती है। इन आन्तरिक नेत्रों के खुल जाने से वह जगत् के पदार्थों को यथार्थ रूप में जानने लग जाता है।

१. अडोल विश्वास

जब सम्यग् दृष्टि आत्मा समभाव के साथ जगत्-शिरोमणि परमात्मा की परम उत्कृष्टता का अनुभव करने लगता है, तब उसका लक्ष्य स्थिर बनता है। वह अपनी आत्मा को सर्वोच्च स्थिति पर पहुंचाने की अभिलाषा करता है। वह मुमुक्षु बनता है। वह स्वयं जगत्-शिरोमणि बनने के लिये स्पृहालु होता है। आत्मा के शुद्ध स्वरूप और मोक्ष के प्रति उसे अडोल विश्वास होता है। वह अपने अन्तरंग नेत्र द्वारा आत्मा के विराट स्वरूप को देखता है। इस प्रकार का अडोल विश्वास हो जाना ही प्रथम आन्तरिक नेत्र का खुल जाना है।

२. उत्कृष्ट श्रद्धान

आत्म-स्वरूप के प्रति दृढ़ विश्वास हो जाने के पश्चात् आत्मा की विशुद्धता उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है। इस अवस्था में आने पर वह विश्व के समस्त प्राणियों के साथ आत्मीय भाव स्थापित करता है। वह समझने लगता है कि जैसी मेरी आत्मा है, वैसी ही अन्य प्राणियों की भी है। निश्चय की दृष्टि से चाहे कोई आत्मा छोटे रूप में हो अथवा बड़े रूप में, परन्तु मूलतः सब आत्माएं समान हैं। जैसे मुझे सुख इष्ट है, दुःख अनिष्ट है, उसी तरह अन्य आत्मा को भी सुख प्रिय है और दुःख अप्रिय है। ऐसा समझ कर वह सब जीवों को 'अप्पा सो परमप्पा' के रूप में देखता है। वह स्वयं अभय बन कर दूसरे जीवों को अभय प्रदान करने का मनोरथ करता है। वह मानता है कि मेरा वह दिन धन्य होगा जब मैं सब जीवों को अभय देने वाले मार्ग पर चल पड़ूंगा। इस प्रकार की उत्कृष्ट भावना होना—उत्कृष्ट श्रद्धान होना, द्वितीय आन्तरिक नेत्र का खुल जाना है।

३ संयमी जीवन के प्रति जागृति

सव आत्माओं के साथ आत्मीय भाव स्थापित करने की भावना के पश्चात् स्वभावतः संयमी जीवन के प्रति रुचि जागृत होती है। वह मानने लगता है कि संयमी जीवन ही साधना की उत्कृष्ट अवस्था है। सर्वज्ञ-सर्वदर्शी परमात्मा ने संयमी जीवन के लिये जो नियमोपनियम निर्धारित किये हैं उनका वह सम्यग्ज्ञान करता है, उनको हितावह मानता और उनके प्रति सावधानी और जागृति बरतता है।

स्थिति में उस सम्यग्दृष्टि आत्मा का तृतीय आन्तरिक नेत्र खुल जाता है ।

४. नीतिमत्ता

आध्यात्मिक विकास के भवन का निर्माण नीति की नींव पर हुआ करता है । यदि जीवन में नैतिकता नहीं है तो वहां आध्यात्मिकता आ ही नहीं सकती । नीति-रहित आध्यात्मिकता ढोंग मात्र है । नैतिकता आध्यात्मिक जीवन की बुनियाद है । सम्यग्दृष्टि आत्मा यह मानता है और चाहता है कि उसका स्वयं का जीवन नीतिमय हो और समाज में सर्वत्र नीतिमय वातावरण हो । वह स्व-जीवन और जन-जीवन में नैतिकता का भव्य रूप देखना चाहता है । जनता में यदि नैतिकता है, यदि वह एक दूसरे से सहयोग कर ईमानदारी से चल रही है, तो सारा वातावरण शांतिमय होगा और ऐसे शान्त वातावरण में समुचित रूप से आध्यात्मिक साधना संभव हो सकती है । अतएव सम्यग्-दृष्टि साधक नीतिमत्ता को आत्मविकास का अंग मान कर चलता है । यह नीतिमय दृष्टि सम्यग्दृष्टि के चतुर्थ आन्तरिक नेत्र को विकसित करती है ।

५. नैतिकता का दृढ़ आग्रह

विश्व में मानवता के मनोहर अंकुर को पल्लवित और पुष्पित करने वाली सामग्री नैतिकता ही है । सम्यग्-दृष्टि आत्मा स्वयं के और जनता के जीनव में नैतिक नियमों को साकार रूप में देखना चाहता है । उन नियमों में यदि कहीं स्खलना होती है, त्रुटि होती है, तो वह उसे असह्य

लगती है। वह नैतिकता का दृढ़ आग्रही होता है। वह सूक्ष्मता से स्खलना का अध्ययन करता है और उसके परिमार्जन की क्षमता भी रखता है। इस प्रकार की भावना का होना पंचम आन्तरिक नेत्र का खुलना है।

६. नैतिक जीवन के संरक्षक की आवश्यकता

संसार में विविध प्रकृति के व्यक्ति हुआ करते हैं। सबकी मानसिक और नैतिक स्थिति एक सी नहीं होती। कोई व्यक्ति प्रकृतितः सात्विक और सद्गुणी होता है तो कोई व्यक्ति आपराधिक वृत्ति का होता है। समाज की व्यवस्था का संचालन करने हेतु यह आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति समाज द्वारा स्वीकृत मर्यादाओं के अन्तर्गत चले। यदि कोई व्यक्ति इस मर्यादा का अतिक्रमण करता है तो उसको अनुशासित करने के लिये तथा समाज में सुव्यवस्था स्थापित करने के लिये किसी नायक की, नेता की, राजा की या अन्य किसी विशिष्ट व्यक्ति की आवश्यकता होती है। समाज में नैतिक नियमों का निष्ठापूर्वक पालन हो, समाज में सुव्यवस्था बनी रहे और सब लोग शान्ति के साथ अपने-अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह करते रहें, ऐसी सुन्दर राज्य-व्यवस्था की आवश्यकता को सम्यग्दृष्टि आत्मा अनुभव करता है। नीति के विस्तार की इस भावना के कारण उसका छठा आन्तरिक नेत्र उद्घाटित हो जाता है।

७. नेतृत्व का परीक्षण

सम्यग्दृष्टि आत्मा समाज की सुव्यवस्था के लिये सुयोग्य नेतृत्व की आवश्यकता को महसूस करता है परन्तु साथ ही वह नेता को कसौटी पर भी कसता है। उसके

जीवन में जनता के प्रति आत्मीय भावना है या नहीं, जन-मानस को समझ कर चलने की क्षमता उसमें है या नहीं, जन-कल्याण के लिये उसके जीवन का सिद्धान्तों के साथ तालमेल है या नहीं, यह सब सम्यग्दृष्टि आत्मा सूक्ष्मता के साथ अवलोकन करता है। ऐसी क्षमता आ जाने पर उसका सप्तम आन्तरिक नेत्र खुल जाता है।

८. आत्म-निरीक्षण

सम्यग्दृष्टि आत्मा वाह्य-जगत् का ही निरीक्षण-परीक्षण नहीं करता अपितु वह आत्मा का निरीक्षण-परीक्षण करता है। वह अपने में रहे हुए दोषों को देखता है, उनका परिमार्जन करने का प्रयत्न करता है। यह आत्म-परीक्षण उसके संशोधन के मार्ग को प्रशस्त बनाता है। जो व्यक्ति अपने दोषों का दर्शन ही नहीं करता, वह उनका परिष्कार कैसे कर सकेगा? सम्यग्दृष्टि आत्मा आत्म-निरीक्षण और परीक्षण करता है। यह आत्म-निरीक्षण की दृष्टि ही अष्टम आन्तरिक नेत्र है।

९. अलिप्तता

सम्यग्दृष्टि आत्मा की यह विचारधारा है कि 'जब तक मैं साधना के पथ पर, संयम के मार्ग पर अग्रसर न हो सकूं, वहां तक जग-व्यवहार की विविध प्रवृत्तियों को करता हुआ भी मैं उनसे अलिप्त रहूँ। कौटुम्बिक दृष्टि से विविध कर्त्तव्यों का निर्वाह करना आवश्यक होता है परन्तु उनको करता हुआ भी मैं उनमें लिप्त और आसक्त न होऊं।' सम्यग्दृष्टि की इस विचारधारा को निम्न दोहे में ठीक ढंग

से व्यक्त किया गया है :—

सम्यग्दृष्टि जीवड़ो करे कुटुम्ब-प्रतिपाल ।
अन्तर्गत न्यारो रहे धाय खिलावे बाल ॥

इस प्रकार की अलिप्त भावना का विकास होने पर उसके नौवें आन्तरिक नेत्र का प्रकटीकरण होगा ।

सम्यग्दृष्टि आत्मा को जब ये आन्तरिक नेत्र प्राप्त हो जाते हैं तो वह अन्तरंग दृष्टि से परमात्मा के स्वरूप को भलीभांति हृदयंगम कर लेता है और क्रमशः संयम मार्ग की साधना करता हुआ स्वयं जगत्-शिरोमणि बन जाता है।

सेव्य-सेवक का भेद :

प्रार्थना में कहा गया है कि—

'जय जय जगत् शिरोमणि, हुं सेवक ने तूं धणी ।'

हे जगत् शिरोमणि ! मैं सेवक हूँ और तू स्वामी है । यह सेवक-स्वामी का भेद साधना की अवस्था को लेकर है । जब साधना सफल हो जाती है तो यह भेद मिट जाता है और साधक स्वयं स्वामी और जगत् शिरोमणि बन जाता है ।

यह सेव्य और सेवक का भेद मिटाने के लिये पर्यु-षण पर्व के दिन आये हैं । आज पर्युषण पर्व का द्वितीय दिवस है । इन दिनों में आप अन्तगड सूत्र के माध्यम से ऐसे महापुरुषों का जीवन-चरित्र श्रवण कर रहे हैं, जिन्होंने साधना करके इस सेव्य-सेवक के भेद को मिटा दिया

ग्रौर जो जगत्-शिरोमणि बन कर लोक के सर्वोच्च स्थान पर प्रतिष्ठित हो गये हैं ।

ग्रन्तगड का पुनः पुनः वाचन क्यों ?

पर्युषण पर्व के आठ दिनों में ग्रन्तगड सूत्र के वाचन की परिपाटी सुदीर्घ काल से चली आ रही है । इसका मूल उद्देश्य यह है कि इस सूत्र में ऐसे महापुरुषों ग्रौर महा-महिलाग्रों का जीवन वृत्त दिया गया है, जिन्होंने कर्म के बन्धनों को तोड़ कर भव का ग्रन्त किया है, जन्म-मरण का अन्त किया है और दुःख का अन्त किया है । हमारा भी यही उद्देश्य ग्रौर लक्ष्य है । इस लक्ष्य की प्राप्ति में यह सूत्र मार्गदर्शक ग्रौर प्रेरक हो सकता है, इस दृष्टि से इस सूत्र को पढ़ने-सुनने की परिपाटी चली ग्रा रही है ।

कहा जा सकता है कि अन्तगड तो प्रतिवर्ष सुनते चले ग्रा रहे हैं, अब कोई नवीन विषय सुनाया जाय । एक ही बात सुनते सुनते दिल उकता जाता है । नवीन के प्रति रुचि जागृत रहती है । यह बात ठीक है कि नवीनता के प्रति ग्राकर्षण और जिज्ञासा होती है परन्तु ग्राप यह भी समझते हैं कि जब तक पूर्व का पाठ याद नहीं होता, तब तक ग्रागे का पाठ नहीं दिया जाता है । ग्रध्यापक पहले 'अ' ग्रक्षर सिखलाता है। तब उसका कितनी बार उच्चारण करवाता है ? बार बार उच्चारण कराने पर जब 'अ' ग्रक्षर पूरी तरह मस्तिष्क में बैठ जाता है, तब ग्रागे का ग्रक्षर सिखाता है । वैसे ही इन ग्राध्यात्मिक कक्षाग्रों के छात्र ग्रन्तगड सूत्र की कथाओं को याद करने की दृष्टि से नहीं ग्रपितु जीवन में उतारने की दृष्टि से याद कर लें तो

आगे का पाठ सुन्दर नीति से समझाया जा सकता है। लेकिन जब तक अन्तगड के अन्तर्गत आये हुए कथानकों के साथ जीवन का सम्बन्ध नहीं जुड़ जाता है, तब तक बार-बार स्मृति कराने की दृष्टि से अन्तगड का पठन और श्रवण कराया जाता है।

आचरण ही सम्यक् पठन है :

महाभारत में कौरव और पाण्डवों का एक प्रसंग वर्णित है। वे विद्याध्ययन कर रहे थे। गुरुजी ने सभी विद्यार्थियों को याद करने लिये एक पाठ दिया—'क्षमां कुरु'। साथ ही यह भी कहा कि इस पाठ को जो जल्दी याद करके लायेगा उसे आगे का पाठ दिया जायेगा। दुर्योधन आदि छात्र बड़े प्रसन्न हुए कि अहो! इसमें क्या है? अभी सुना देते हैं। दो ही तो शब्द याद करने हैं। वे सब जल्दी जल्दी पाठ सुनाने के लिये आतुर हो रहे थे और उन्होंने एक के बाद एक 'क्षमां कुरु' बोल कर गुरुदेव को पाठ सुना भी दिया।

धर्मराज युधिष्ठिर चुपचाप बैठे हुए थे। वे 'क्षमां कुरु' पाठ सुनाने की आतुरता प्रकट नहीं कर रहे थे। अध्यापक ने पूछा, 'धर्मराज क्या बात है? पाठ याद हुआ?'

युधिष्ठिर ने कहा, 'गुरुदेव, अभी याद नहीं हुआ।'

शिक्षक ने थोड़ी देर बाद पुनः पूछा, 'युधिष्ठिर, पाठ याद हुआ?'

'अभी याद नहीं हुआ, गुरुदेव!'

गुरुजी ने कहा, 'तुम बड़े राजकुमार हो। तुम्हारी बुद्धि कितनी मंद है कि छोटे छोटे दो शब्द भी अब तक याद न कर पाये।'

धर्मराज ने विनय से कहा, 'गुरुदेव ! याद करने का प्रयास कर रहा हूं।'

थोड़ा समय और बीत गया। गुरुजी ने कहा, 'युधिष्ठिर ! अब तो पाठ सुनाओ।'

'गुरुदेव ! थोड़ा थोड़ा याद हुआ है।'

यह सुन कर गुरुजी को क्रोध आ गया और उन्होंने धर्मराज युधिष्ठिर के गाल पर चांटा लगा दिया। गाल लाल हो गया। धर्मराज मुस्कराने लगे।

गुरुजी को अचरज हुआ ! वे बोले, 'तू कैसा अजीब छात्र है ! चांटा खाकर भी हंसता है, बड़ा ढीठ है।'

'गुरुदेव ! पाठ याद कर रहा हूं।'

'फिर वही बात ! दुबारा गुरुजी ने चांटा कस दिया।

क्या अब भी याद नहीं हुआ ?

'याद हो रहा है, गुरुदेव !'

अध्यापक हैरान हो गये। उन्होंने पूछा—'कहां याद कर रहा है ?'

'गुरुदेव, परीक्षा दे रहा हूं। आपने कहा था 'क्षमां कुरु' अर्थात् क्षमा करो। क्षमा कब की जाती है ? अनुकूल

स्थितियों में क्षमा करने का प्रसंग नहीं आता। जब प्रतिकूल परिस्थितियां सामने आती हैं, तब क्षमा की कसौटी होती है। जब आपने तमाचा लगाया तब क्षमा का पाठ थोड़ा याद हुआ। 'क्षमा करो' शब्द रट लेना कोई अर्थ नहीं रखता। क्षमा को जब जीवन में उतारा जाय तो मैं समझता हूँ कि क्षमा का पाठ याद हुआ। मैं बड़ा राजकुमार हूँ। मैं आपको कह सकता था कि आप कौन होते हैं मुझे चांटा लगाने वाले ? लेकिन इस स्थिति में मैंने क्षमा को जीवन में उतारने का प्रयत्न किया। चांटा लगने पर भी मुझे क्रोध नहीं आया ! मैं क्षमा की कसौटी में उत्तीर्ण रहा। अब मैं कह सकता हूँ कि 'क्षमां कुरु' यह पाठ मुझे याद हो गया।'

यह सुन कर गुरुजी दंग रह गये। उन्हें अपने प्रति क्षोभ हुआ और उन्होंने युधिष्ठिर की प्रशंसा करते हुए कहा कि सचमुच पाठ को आचरण में लाना ही वास्तविक पढ़ना है। तुम्हारे जैसे छात्र अति विरल हैं।

युधिष्ठिर ने जिस प्रकार 'क्षमां कुरु' पाठ याद किया उस तरह से अन्तगड सूत्र को याद करने की आपकी तैयारी हो रही है क्या ? अन्तगड में जिन जिन महापुरुषों का वर्णन आया है, क्या आपने उनका अन्तरंग दृष्टि से अवलोकन किया है ? उन महापुरुषों की अन्तरंग दृष्टि खुली हुई थी। उनके चरित को सम्यग् रूप से समझने के लिये हमारी और आपकी अन्तरंग दृष्टि खुली होनी चाहिये।

रंगों की डिबिया में चित्र :

रंगों की डिबियां में विविध रंग होते हैं और उनके

माध्यम से चित्रकार विविध चित्रों का निर्माण करता है। इस अपेक्षा से कहा जाता है कि रंगों की डिविया में क्या क्या नहीं है ? उसमें हाथी है, घोड़ा है, रथ है, पैदल है, दुरियां भर के चित्र उसमें परोक्ष रूप से रहे हुए हैं लेकिन चित्रकार जब तक तूलिका द्वारा चित्र वना कर नहीं वताता तव तक रंगों का महत्त्व समझ में नहीं आता। वैसे ही शास्त्रीय शब्दों में वहुत ही गूढ रहस्य रहे हुए हैं। उनको समझने और समझाने के लिये कुशल चित्रकार की तरह अन्तरंग दृष्टि और अन्तरंग कला की आवश्यकता है।

देवकी की खुली हुई अन्तर्दृष्टि :

अन्तगड सूत्र के संदर्भ में छह सहोदर भाइयों का वर्णन आया है। ये सहोदर भाई कौन थे ? देवकी के अंगजात। लेकिन महारानी देवकी को इसका पता ही नहीं था। जव उसको यह ज्ञात हुआ तो वह कितनी प्रसन्न हुई ! देवकी सम्यग्दृष्टि आत्मा थी। उसके अन्दर समभाव की जागृति हुई थी। वह अन्तरंग नौ नेत्रों से युक्त थी।

जव वे छह सहोदर अनगार दो-दो के संघाड़े (समुदाय) से भिक्षा के लिये द्वारिकाधीश के भव्य भवन में प्रवेश करते हैं तो उनको आते हुए देख कर महारानी देवकी के मन में कितना उल्लास हुआ, वह कितनी हर्ष-विभोर हुई और किस तरह वह मुनिराजों के स्वागत के लिये उनके सम्मुख गई ! इस प्रकार की वृत्ति कव वनती है ? जव पूर्व वर्णित अन्तरंग प्रथम, द्वितीय, तृतीय नेत्र खुले होते हैं तव अवश्य ऐसी वृत्ति वनती है।

देवकी समझती थी कि इस आत्मा का परम पद पर पहुंचना संयम की साधना द्वारा ही होता है । ये तरुण वय वाले दोनों मुनिराज मेरे द्वार पर आये हैं, मुझे धन्य बनाने पधारे हैं । ये कल्पद्रुम के तुल्य हैं । ये सब प्राणियों को अभय देने वाले हैं । यदि मुनि रूप में ये न होते तो थोड़े व्यक्तियों को अभयदान या अन्यदान दे सकते थे परन्तु जगत् के समग्र प्राणियों को अभयदान नहीं दे सकते थे । आज ये आत्माएं कितने विराट् रूप में हैं । ये जगत् की बहुमूल्य सेवाएं कर रहे हैं ।

क्या समाज के लिये साधु भारभूत हैं ?

आजकल बहुत से लोग यह कहते रहते हैं कि साधु-संत जगत् को क्या देते हैं ? वे समाज के लिये भारभूत हैं । डाक्टर मनुष्यों के शरीर के रोग मिटाने की सेवा करता है, अतः उसकी आवश्यकता है । वकील कानूनी उलझनों को मिटाते हैं, अतएव वे भी समाज के लिये उपयोगी हैं । अध्यापक छात्रों के मस्तिष्क का परिमार्जन करते हैं, अतएव वे भी समाज के अनिवार्य अंग हैं । कृषक मानवों के लिये अन्न आदि उत्पन्न करते हैं, अतः उनकी आवश्यकता है । परन्तु साधु-संत समाज की क्या सेवा करते हैं ? न तो वे राष्ट्र को नेतृत्व प्रदान करते हैं, न शारीरिक चिकित्सा करते हैं, न अध्यापक की तरह छात्रों को परीक्षा में उत्तीर्ण कराते हैं, न वकील की तरह कार्य करते हैं, न कृषक की तरह उत्पादन ही करते हैं तो साधुवर्ग की समाज को क्या आवश्यकता है ?

यह कथन वही व्यक्ति करता है, जिसके अन्तरंग नेत्र

बन्द हैं, जिसके दृष्टिकोण में स्थूल विषय ही आते हैं, जो कूपमण्डूक की तरह संकुचित होकर भी उसे ही सर्वस्व समझता है। यह दृष्टि का वैषम्य है, मिथ्यापन है। मिथ्यादृष्टि केवल भौतिकता को ही देखता है, उसे ही परिपूर्ण समझता है। साधु-संत समाज को वह दिव्य दृष्टि प्रदान करते हैं जिसके प्रकाश में वह कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णय कर सकता है, अच्छे-बुरे का विवेक कर सकता है। जगत् के आंगन में शांति और सुख का संचार कर सकता है। दृष्टि के अभाव में संसार में घोर संघर्ष हो सकता है, जगत् का वातावरण अशान्त, क्षुब्ध और विषाक्त हो सकता है। इस अर्थ में साधु-संत समाज की जो सेवा करते हैं वह सर्वोत्कृष्ट सेवा है। इस तथ्य को कोई विवेकवान व्यक्ति चुनौती नहीं दे सकता।

भौतिक दृष्टि एकांगी है, अपूर्ण है। इतना ही नहीं, भौतिकता का क्षेत्र अत्यन्त छोटा है जबकि आध्यात्मिक एवं अन्तरंग विश्व का क्षेत्र व्यापक विस्तृत है। उस विराट अन्तरंग विश्व को समझने के लिये अन्तरंग दृष्टि की अपेक्षा है। उससे ही वह देखा और परखा जा सकता है। उससे ही वास्तविक रीति से तत्त्वों के कार्य-कारण भाव को समझा जा सकता है। जहां हमारी स्थूल दृष्टि पहुंचने में असमर्थ होती है, वहीं से अन्तरंग दृष्टि का कार्य आरम्भ होता है।

जगद्वैचित्र्य का कारण :

एक ही परिवार में रहने वाले ५ भाई हैं। उनका लालन-पालन एकसा हुआ है, खाने-पीने की साधन-सामग्री तुल्य मिली, पैतृक संस्कार एक से मिले, फिर उनमें अन्तर क्यों

होता है? एक बुद्धिमान है, दूसरा वज्रमूर्ख है, एक सम्पन्न है, एक विपन्न है, एक स्वस्थ है, दूसरा सदा रोगी रहता है। इस विचित्रता का कोई दृष्ट कारण प्रतीत नहीं होता। भौतिक कार्य-कारण भाव से इसका समाधान नहीं होता। भौतिक दृष्टि यहां हार मान लेती है। इसका समाधान हमारी अन्तरंग दृष्टि करती है।

न्याय मंजरीकार जयन्त ने इस विषय पर प्रकाश डालते हुए कहा है :—

जगतो यच्च वैचित्र्यं सुख—दुःखादि भेदतः।
कृषि सेवादि साम्येऽपि विलक्षणफलोदयः॥
अकस्मान्निधिलाभश्च विद्युत्पातश्च कस्यचित्।
क्वचित्फलमयत्नेऽपि यत्नेऽप्यफलता क्वचित्॥
तदेतद् दुर्घटं दृष्टात्कारणाद् व्याभिचारिणः।
तेनादृष्टमुपेतव्यमस्य किञ्चन कारणम्॥

—न्याय मंजरी

संसार में कोई सुखी है तो कोई दुःखी है। खेती नौकरी आदि करने पर भी किसी को विशेष लाभ होता है और किसी को नुक्सान उठाना पड़ता है। किसी को अचानक सम्पत्ति मिल जाती है और किसी पर बैठे हुए बिजली गिर पड़ती है। किसी को बिना प्रयत्न किये ही फल प्राप्ति हो जाती है और किसी को यत्न करने पर भी फल-प्राप्ति नहीं होती। ये सब बातें किसी दृष्ट कारण से नहीं होतीं अतः इनका कोई अदृष्ट कारण मानना चाहिये।

बौद्ध दर्शन के ग्रन्थ में राजा मिलिन्द और स्थविर नागसेन का एक संवाद दृष्टिगोचर होता है। राजा बोला—भन्ते ! क्या कारण है कि सभी आदमी एक ही तरह के नहीं होते ? कोई कम आयु वाले, कोई दीर्घ आयु वाले, कोई बहुत रोगी, कोई नीरोग, कोई भद्दे, कोई सुन्दर, कोई प्रभावहीन, कोई प्रभाव वाले, कोई गरीब, कोई धनी, कोई नीच कुल वाले, कोई ऊंचे कुल वाले, कोई मूर्ख और कोई बुद्धिमान क्यों होते हैं ?

स्थविर ने कहा—'महाराज, क्या कारण है कि सभी वनस्पतियां एक जैसी नहीं होतीं ? कोई खट्टी, कोई खारी, कोई तीखी, कोई कडुवी कोई कसैली और कोई मीठी क्यों होती है ?

'भंते ! मैं समझता हूँ कि बीजों के भिन्न भिन्न होने से वनस्पतियां भिन्न-भिन्न होती हैं।'

'महाराज ! इसी तरह सभी मनुष्यों के अपने अपने कर्म भिन्न भिन्न होने से सभी एक ही तरह के नहीं हैं। कोई कम आयु वाले, कोई दीर्घ आयु वाले इत्यादि विविध प्रकार के होते हैं।'

इन संदर्भों से यह प्रमाणित होता है कि बाह्य साधन-सामग्री एकसी होने पर भी जो विचित्रता पाई जाती है उसका कारण पूर्वजन्म के शुभ-अशुभ कर्म हैं। बाह्य दृष्ट कारणों से यह वैचित्र्य घटित नहीं होता ! वैचित्र्य है, अतएव अर्थापत्ति प्रमाण से सिद्ध होता है कि कोई अदृष्ट अन्तरंग कारण है। इस तरह आत्मा और कर्म की सत्ता

सिद्ध होती है । स्थूल भौतिक संसार से परे कोई विराट् अन्तरंग विश्व है और उसकी विविध प्रवृत्तियां हैं, यह माने बिना कोई चारा नहीं है । उस विराट आन्तरिक विश्व का ज्ञान आन्तरिक नेत्रों के खुलने पर ही होता है ।

विश्व में जो देश साम्यवादी समझे जाते हैं, जहां साम्यवाद या समाजवादी व्यवस्था है, ऐसे रूस प्रमुख देशों में भी यह विषमता देखने को मिलती है । रूस में प्रधान-मंत्री को और मजदूर को क्या समान वेतन मिलता है ? क्या सोवियत यूनियन के प्रेसिडेन्ट का और एक मजदूर का एक सा सम्मान और गौरव है ? नहीं है । थोड़ी सी समानता के वावजूद अनेक विषयों की विषमता वहां विद्यमान है । इस तारतम्य और विषमता का कारण आखिर कोई होना चाहिये । कोई माने, या न माने, आज नहीं तो कल मानना होगा कि आत्मा के शुभाशुभ कर्म इसके मूल कारण हैं ।

उक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि भौतिक विश्व और भौतिकता ही सब कुछ नहीं है । जो एक मात्र भौतिक दृष्टिकोण अपनाता है, वह धोखा खाता है । वह वस्तु का सही स्वरूप-दर्शन करने से वंचित रह जाता है । सम्यग्दृष्टि आत्मा अपने नौ अन्तरंग नेत्रों से आन्तरिक आध्यात्मिक लोक का अवलोकन करता है । उसके सन्मुख आत्मा और परमात्मा का विराट एवं व्यापक स्वरूप सदैव विद्यमान रहता है ।

साधु-जीवन की गरिमा :

साधु-जीवन की स्थिति बहुत महत्त्वपूर्ण है । वह

राष्ट्रपति की गरिमा से भी विशिष्ट गरिमा-सम्पन्न है । राष्ट्रपति अपने ही राष्ट्र की सेवा करता है जबकि सन्तों का जीवन विश्व के समस्त प्राणियों की सेवा के लिये है। संत-जीवन केवल राष्ट्र के लिये ही नहीं अपितु समग्र विश्व के लिये हितावह होता है ।

इस बात को आप अन्य रीति से समझ सकते हैं। एक ऐसा व्यक्ति है जो अपनी परवाह किये बिना अपने परिवार की सेवा में संलग्न रहता है । एक दूसरा व्यक्ति है, जो अपने परिवार की सेवा करने के साथ ही मोहल्ले और गांव वालों की भी सेवा करता है। यह निर्विवाद है कि पहले व्यक्ति की अपेक्षा दूसरा व्यक्ति अधिक सेवाभावी माना जायेगा क्योंकि उसकी सेवा का क्षेत्र अधिक व्यापक है। इससे आगे बढ़कर यदि कोई अपनी सेवा के क्षेत्र को राष्ट्र-व्यापी बना लेता है तो वह और अधिक सेवाभावी समझा जायेगा । तो जिसने मानव मात्र ही नहीं, प्राणिमात्र की सेवा का व्रत लिया है वह सर्वोत्तम सेवाभावी कहलाएगा। संतजन अपने सर्वजनहितकारी उपदेशों के द्वारा प्राणिमात्र का कल्याण करते हैं अतएव वे विश्व के परमोपकारी हैं। वे मानव-समाज के अद्वितीय सेवक और लोकहितकारी हैं। मानव-समाज के अभ्युदय में और विश्व के वातावरण को शान्तिमय बनाने में संतों का असाधारण योगदान है । अत-एव समाज के लिये संत भारभूत नहीं हैं, अपितु आधार-भूत हैं ।

हां, यह बात अवश्य है कि सब साधु एक से नहीं होते । साधुता की कसौटी पर कस कर देखिये । यदि वह

खरा उतरता है तो ठीक है। यदि उसमें त्रुटि दिखाई देती है तो उसके संशोधन का प्रयत्न कीजिये। यदि फिर भी सुधार न हो तो उसे साधु की कोटि में स्थान नहीं दिया जाना चाहिये। जिस प्रकार किसी व्यापारी के अप्रामाणिक व्यवहार से सब व्यापारियों को अप्रामाणिक नहीं कहा जा सकता, इसी तरह कदाचित् किसी साधु के जीवन में साधु-जीवन की मर्यादा न हो तो इससे सब साधुओं को शंका की दृष्टि से नहीं देखा जाना चाहिये। व्यक्ति की बुद्धि ऐसी होनी चाहिये। सोने-चांदी की कसौटी की तरह साधु-जीवन की भी कसौटी की जा सकती है। उस पर जो खरे उतरें, वे वन्दनीय और पूजनीय हैं।

हां, तो देवकी महारानी उन दोनों मुनियों को पूज्य दृष्टि से देखने लगी। वह सोचती है कि किस भाग्यशाली माता ने कल्पवृक्ष के तुल्य इनको जन्म दिया है! ये कितने सुन्दर दिख रहे हैं! तरुण वय में साधना के पथ पर चल कर ये अपने जीवन को धन्य बना रहे हैं! मैं भाग्यशालिनी हूं, जो इनका मेरे यहां पदार्पण हुआ है! वह अपने भाग्य की सराहना करती हुई उन मुनिराजों के सम्मुख गई और उनको विधिपूर्वक वन्दन किया। सत्कार सम्मान के साथ उनको भोजनगृह में लाई और बोली, 'भगवन्! भोजन ग्रहण कीजिये! आपके पवित्र चरणों से मेरा घर पावन हुआ, भोजन ग्रहण कर मुझ पर अनुग्रह कीजिये!' मुनियों ने भोजन पर दृष्टि डाली, यह जानने के लिये कि यह कल्पनीय है अथवा नहीं! महारानी देवकी उनके भावों को समझकर समाधान करती है कि 'यह आहार कल्पनीय है त्रिखंडाधिपति के लिये बनाये गये केशरिया मोदक हैं।

इनमें से ग्रहण करने की कृपा कीजिये ।'

मुनियों ने कल्पनीय जानकर देवकी महारानी द्वारा दिये गये केशरिया मोदकों को ग्रहण किया और गजगति से चल दिये । देवकी उन्हें द्वार तक पहुंचाने आई । आज देवकी ने अपने आपको धन्य माना कि उसे मुनियों को प्रतिलाभित करने का सुन्दर अवसर प्राप्त हुआ । वह कृतार्थ हुई ।

कुछ समय पश्चात् संयोगवश देवकी की दृष्टि द्वार की ओर जाती है तो वह देखती है कि वे ही मुनिराज पुनः पधार रहे हैं । देवकी मुनियों के नियमों को जानने वाली थी । वह सोचने लगी कि मुनिराज सुख-समाधि रहते एक घर से एक हो बार आहार ग्रहण करते हैं । दूसरे दिन भी उस घर में नहीं जाते तो यह क्या बात है ? सही बात यह थी कि जो मुनि पहले आये थे, वे दुबारा नहीं आये किन्तु दूसरे दो मुनि आये थे । लेकिन इन मुनियों की आकृति भी पहले आये हुए मुनियों जैसी थी, इसलिये देवकी को ऐसा मालूम हो रहा था कि ये पहले वाले ही मुनि हैं । देवकी को विचार अवश्य उत्पन्न हुआ तदपि उसने अपनी दृष्टि में दूसरी बार आये हुए मुनियों को सत्कार सन्मान पूर्वक आहार प्रतिलाभित किया । दूसरा संघाड़ा भी आहार लेकर चला गया ।

संयोगवश तीसरा संघाड़ा भी देवकी के यहां पहुंच गया । देवकी का चतुर्थ अन्तरंग नेत्र क्रियाशील हुआ । वह सोचने लगी कि 'ये मुनिराज वारम्बार मेरे घर में क्यों प्रवेश कर रहे हैं ? यद्यपि मेरे यहां किसी वस्तु की कमी

नहीं, मेरी दानभावना में भी कोई कमी नहीं, कृष्ण महा-राज का भंडार और खजाना भरा हुआ है लेकिन विचार इस बात का होता है कि ये मुनिराज अपनी साधना के नियमों से विचलित हो रहे हैं। यदि साधु भी अपनी साधना से विचलित होने लगें तो फिर किसका सहारा रहेगा ? साधु पानी के समान निर्मल होते हैं। पानी के निर्मल कुण्ड में यदि विष मिलने लगा तो सारी दुनियां जहरीली हो जायेगी। साधुओं के जीवन में पवित्रता रहनी ही चाहिये। दूसरा विचार उसे यह आया कि क्या द्वारिका की जनता ने अपनी नैतिकता का परित्याग कर साधु संतों का स्वागत करना छोड़ दिया ? क्या द्वारिका की जनता नैतिकता से गिर गई है जो साधु संतों को आहारादि प्राप्त करने में कठि-नाई होती है जिसके कारण संतों को बार बार मेरे यहां आना पड़ा। क्या द्वारिका की जनता ने अपना अतिथि संविभाग व्रत लुप्त कर दिया है ? द्वारिका की जनता में यदि ऐसा दोष आ गया है तो इसका दायित्व राजा पर भी आता है क्योंकि 'यथा राजा तथा प्रजा' की उक्ति ठीक ही है। राजा में त्रुटि है या राजा का अनुशासन ठीक नहीं है या और कोई कारण है, कुछ समझ मे नहीं आता !'

इस प्रकार की अनेक कल्पनाएं देवकी के मस्तिष्क में उठीं, तदपि उसने मुनिराज को आहार प्रतिलाभित किया। तत्पश्चात् उसने उन मुनिराज से ही अपना समा-धान कर लेना उचित समझा। वह द्वार तक पहुंचाने गई और वन्दना कर पूछने लगी कि 'भगवन् ! आप तीसरी बार यहाँ भिक्षा के लिये पधारे, तो क्या द्वारिका नगरी में अन्यत्र भिक्षा नहीं मिलती ?'

मुनिराज विचक्षण थे। वे समझ गये कि देवकी के इस भ्रम का कारण क्या है ? उन्होंने स्पष्टीकरण करते हुए कहा—'हम छह सहोदर भाई भगवान् नेमिनाथ के पास दीक्षित हुए हैं। अभिग्रह लेकर दो दो के समुदाय में हम भिक्षा के लिये निकलते हैं। द्वारिका बड़ी नगरी है। संभव है, संयोग ऐसा बना है कि दो संघाड़े यहां पहले आ गये हों और हम भी चले आये। हम छह भाइयों की आकृति एक हो जैसी है अतएव तुम्हें इस प्रकार की शंका हो गई है। देवानुप्रिये ! जो संत पहले आये थे, वे हम नहीं हैं, हम दूसरे हैं। हम छह भाइयों ने एक ही माता सुलसा की कुक्षि से जन्म लिया है, हमारी आकृति तुल्य है। हमने तरुण वय में ऋद्धि वैभव का त्याग करके प्रभु-चरणों में मुनि-जीवन अंगीकार किया है।'

मुनि-जीवन कौन अंगीकार करता है ? कई भाई कहा करते हैं कि जिन्हें कमाना नहीं आता, वे साधु बन जाते हैं ! यह कितनी तुच्छता भरी बात है ! अरे ! निठल्ले तो बहुतेरे बैठे हैं वे सबके सब साधु क्यों नहीं बन जाते ? लोग निकम्मे हो जाते हैं, वृद्धावस्था में पहुंच जाते हैं तदपि नासिका के मैल की मक्खी की तरह असंयमी जीवन से चिपके रहते हैं ! जो पुण्यवान् आत्माएं होती हैं वे ही त्याग के मार्ग पर अग्रसर होती हैं। साधारण लोगों की स्थिति तो ऐसी है कि २४ घन्टों के लिये भी वे मर्यादा में नहीं रह पाते। पौषध करना या दया व्रत की आराधना करना भी उन्हें कठिन लगता है। अरे ! धन्ना शालिभद्र जैसे ऋद्धिशाली व्यक्ति समय आने पर सब कुछ त्याग कर संयम-मार्ग पर चल पड़े। इस प्रकार उन्होंने अपना कल्याण

जो वचन बोलती है, वह प्राय: सही हुआ करते हैं। छल कपट से रहित, शुद्ध जीवन वाले अनगार के मुख से निकले हुए वचन असत्य नहीं होते। संतजन मन, वचन और कर्म से एकरूप होते हैं। उनके मन में कुछ और, बाहर कुछ और ऐसा दुहरा जीवन उनका नहीं होता। संतजनों का जीवन सरल, अनुशासित और निर्दोष होता है। ऐसे ही संत प्रभु महावीर के शासन को समलंकृत करते हैं। उनके जीवन की स्थिति सहज और सरल होती है। उनके मुख से निकले हुए वचन असत्य नहीं होते। निर्दोष, अबोध और भोले बालक के मुख से सहज और अकस्मात् निकले हुए वचन प्राय: मिथ्या नहीं होते।'

'परन्तु मैं देख रही हूँ कि उन मुनिराज के वचन सत्य नहीं लगते ! मैंने छह पुत्रों को जन्म अवश्य दिया परन्तु वे मरे हुए थे। कृष्ण को जन्मते ही गोकुल भेज देना पड़ा। उसका लालन-पालन करने, लाड़ लड़ाने या बाल-सुलभ लीलाओं का आनन्द लेने का सौभाग्य मुझे नहीं मिला। मैं अधन्य हूँ। धन्य तो है वह माता, जिसने इन नलकुबेर के समान छह सहोदर भाइयों को जन्म दिया है !'

इस प्रकार देवकी का चिन्तन चल रहा है। उसके मन में अतिमुक्तक मुनि के वचनों के प्रति शंका उत्पन्न हो हो गई। वह संशय-ग्रस्त हो गई। लेकिन वह विचक्षण थी। उसने निश्चय किया कि क्यों न इस संशय का समाधान प्रभु अरिष्टनेमि से कर लिया जाय। संशय उत्पन्न होना बुरा नहीं है, साधक को अनेक विषयों में संशय हुआ करता है; परन्तु संशय का समाधान अवश्य कर लेना चाहिये। संशय

में घुलते रहना बुरा है। शास्त्रकारों ने कहा है कि संशय करने वाले व्यक्ति का विनाश होता है। गीता में कहा है-

संशयात्मा विनश्यति।

संशय से आत्मा नष्ट होती है। जिज्ञासा को लेकर जो संशय हुआ करता है, वह आपत्तिजनक नहीं है। वह तो ज्ञान वृद्धि का कारण होता है। परन्तु वह संशय विनाश का कारण बनता है जो सदैव ही संशय बना रहता है और कभी समाधान की स्थिति में नहीं आता। शंका होने पर उचित स्रोत से और उचित व्यक्ति से समाधान प्राप्त कर लेना चाहिये। देवकी ने यही पद्धति अपनाई और वह अपने संशय के निवारणार्थ भगवान् अरिष्टनेमि की सेवा में पहुंची।

देवकी के प्रश्न करने पर भगवान् अरिष्टनेमि ने उसका समाधान करते हुए फरमाया कि ये छह सहोदर भाई तेरे ही पुत्र हैं। यह सुनते ही देवकी के हृदय में असीम उल्लास पैदा हुआ। उसका रोम रोम विकसित हो गया। शरीर फूल गया।। कंचुकी के बन्ध टूट गये। स्तनों से दूध की धारा वहने लगी। शास्त्र में ऐसा वर्णन किया गया है। यह कोई अतिशयोक्तिपूर्ण वात नहीं है। यह वैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित है। आप सब जानते हैं कि माता के स्तनों में दूध कब आता है? जब माता में अपनी सन्तान के प्रति तीव्र वात्सल्य पैदा होता है, तब दूध आता है।

जब देवकी ने उन छह सहोदर बन्धुओं को अपनी

सन्तान के रूप में जाना तो उसके हृदय में उनके प्रति इतना प्रबल वात्सल्य पैदा हुआ कि उसके स्तनों से दूध निकल पड़ा। माता का सन्तान के प्रति वात्सल्य ही उसके स्तनों में दूध पैदा करता है।

देवकी अपने भाग्य की सराहना करने लगी। वह अपने को धन्य मानने लगी कि उसकी कुक्षि से सात अद्वितीय लालों का जन्म हुआ। उसके छह लाल महामुनि बन कर मोक्षमार्ग की आराधना कर रहे हैं और एक लाल कृष्ण द्वारकाधिपति के नाते जनता के प्रति अपने कर्त्तव्य का निर्वाह कर रहा है। वह अपने अहोभाग्य पर प्रसन्न है, साथ ही वह अपने कर्त्तव्य को स्थिर करने के प्रति भी सावधान है। इसके पश्चात् वह अपने जीवन को क्या दिशा प्रदान करती है, यह आगे का विषय है।

जीवन तत्त्व :

अन्तगड के माध्यम से जीवन का निर्माण करने वाले तत्त्व आपके सामने रखे हैं। ये आध्यात्मिक विटेमिन (जीवन तत्त्व) हैं। इनका पुनः पुनः सेवन करना चाहिये। सूर्य प्रतिदिन वही का वही उगता है। हजारों नहीं, लाखों वर्षों से सूर्योदय की एक सी स्थिति चली आ रही है तो क्या सूर्योदय के प्रति आपकी रुचि नहीं रहती? अवश्य रहती है। रोज रोज उगने वाला सूर्य प्रभात में नई स्फूर्ति प्रदान करता है। प्रतिदिन उगने पर भी सूर्यदर्शन के प्रति रुचि बनी ही रहती है। आप प्रतिदिन दूध पीते हैं, दही और घी खाते हैं। दूध, दही और घी का स्वाद क्या प्रति-दिन नया नया होता है या सदाकाल उनका एकसा स्वाद

कर्त्तव्य-बोध

काकन्दी नगरी भली हो श्री सुग्रीव नृपाल ।
'रामा' तस पटरानी हो, तस सुत परम कृपाल ।।
श्री सुविधि जिनेश्वर वंदिये हो ।।
वंदत पाप पुलाय

प्रभुता त्यागी राजनी हो लीधो संजम भार ।
निज आतम अनुभव थकी हो पाम्या पद अविकार ।।
श्री सुविधि जिनेश्वर वंदिये हो ।।

यह सुनिधिनाथ भगवान् की प्रार्थना है । वैसे तो परमात्मा सब प्रकार के नाम, जाति आदि विकल्पों से अतीत है, सब सिद्ध-परमात्माओं का स्वरूप एक-सा है । सब सच्चिदानन्दमय और ज्योति-स्वरूप हैं । सब अजर, अमर, अगम, अगोचर, अविनाशी, निरंजन, निराकार, निर्विकल्प, निर्लेप, निरामय, निष्कलंक और निष्काम हैं । वे सब अविनाशी हैं और सुख की राशि हैं । तदपि भूतकालीन नय की अपेक्षा से तथा पर्याय की विवक्षा से परमात्मा के विविध गुण और विविध नामों का कीर्तन किया जाता है । इसी दृष्टि से यहां परमात्मा को 'सुविधिनाथ' कहा गया है ।

जैन दर्शन की तत्त्व-निरूपण शैली अपने आप में अनूठी है। वह विविध दृष्टिकोणों को लेकर चलती है। प्रत्येक पदार्थ के विविध पहलू होते हैं। उन विविध पहलुओं की विविध विचार-सरणियों को जैन-दर्शन में 'नय' कहा जाता है। वैसे तो ये नय अनन्त हो सकते हैं। वस्तु में अनन्त धर्म होते हैं, अतः उनको कहने वाले नय भी अनन्त होते हैं। इसीलिए कहा गया है:—

'जावट्टया वयणपहा तावट्टया हुंति णयवादा'

—सन्मति०

जितने वचन मार्ग हैं उतने ही नय हैं। तदपि उन नयों का वर्गीकरण कर दिया गया है। द्रव्यनय और पर्याय नय, निश्चय नय और व्यवहार नय, ज्ञान नय और क्रिया नय इत्यादि रूप में नयों का वर्ग-विभाजन किया गया है।

जव हम द्रव्य नय को लेकर वस्तु की विचारणा करते हैं तव वस्तु एक, नित्य और अखंड प्रतीत होती है और जव पर्याय नय की दृष्टि को लेकर चलते हैं तो वस्तु अनेक, अनित्य और भिन्न-भिन्न प्रतीत होती है। इस द्रव्यार्थिक नय को लेकर सिद्ध-परमात्मा का स्वरूप एक, नित्य, अखण्ड दृष्टिगोचर होता है। उनमें नाम, जाति आदि विकल्प-भेद नहीं रहते। जव पर्याय नय की दृष्टि से विचार करते हैं तो सिद्ध परमात्मा में नाम, गुण आदि को लेकर भिन्नता प्रतीत होती है। द्रव्य नित्य होता है, पर्याय परिवर्तनशील हैं।

प्रस्तुत स्तुति में पर्याय नय की विवक्षा है। वर्तमान

में सिद्ध रूप में रही हुई आत्मा पूर्व में सुविधिनाथ तीर्थंकर के रूप में थी, अतएव उस भूतभाव को लेकर सिद्ध स्वरूप परमात्मा को सुविधि जिनेश्वर कहा गया है। उन सुविधि-नाथ परमात्मा को वन्दन करने के लिए कवि ने प्रेरणा दी है। साथ ही यह विश्वास दिलाया है कि यदि उन परमात्मा को वन्दन किया जाय तो सब पाप नष्ट हो सकते हैं।

सुविधिनाथ क्यों वन्दनीय हैं ?

प्रश्न हो सकता है कि सुविधिनाथ हमारे लिए क्यों वन्दनीय हैं और उनको वन्दन करने से पापों का नाश किस प्रकार हो सकता है ? इसका उत्तर स्वयं कवि ने इन पंक्तियों में दिया है:—

प्रभुता त्यागी राज नी हो, लीधो संजम भार।
निज आतम अनुभव थकी हो पाम्या पद अविकार॥
श्री सुविधि जिनेश्वर वंदिये हो।

सुविधिनाथ इसलिए वन्दनीय नहीं हैं कि वे एक विशाल राज्य के स्वामी थे अथवा अपार धन-वैभव उनके चरणों से लोटता था। वे इसलिए वन्दनीय हैं कि उन्होंने राज्य की प्रभुता का त्याग किया था, धन वैभव और विलासपूर्ण जीवन को छोड़कर संयम का मार्ग अपनाया था। संयम की साधना के द्वारा आत्मा के मौलिक स्वरूप का अनुभव किया। आत्मा का साक्षात्कार करके परिपूर्ण केवल ज्ञान प्राप्त किया और उसके विमल आलोक में जन-कल्याण के लिए सुविधि का निर्देश किया, धर्मतीर्थ की स्थापना की और अन्ततः अविकार और शाश्वत सिद्ध स्वरूप को प्राप्त हुए।

उन सुविधिनाथ भगवान् ने जगत् के जीवों को सुविधि वताई, कल्याण का मार्ग वताया, कर्त्तव्य का दिशाबोध दिया और संसार-सागर से पार होने का तौर तरीका या विधि-विधान समझाया। अतएव वे 'यथानाम तथा गुणः' के अनुसार 'सुविधिनाथ' कहलाये।

सुविधिनाथ परमात्मा की बताई हुई सुविधि के अनुसार चलने वाला, उसे जीवन व्यवहार में अपनाने वाला, उसके अनुसार प्रवृत्ति करने वाला व्यक्ति सब पाप-बन्धनों से मुक्त होकर अपने जीवन-लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। ससारवर्ती प्राणी विविध दुखों से अभिभूत हो रहा है, पाप के संतापों से संतप्त हो रहा है, दुष्कर्मों के भार से दवा जा रहा है, मोह के अन्धकार में ठोकरें खा रहा है, लक्ष्य से भ्रष्ट होकर इधर-उधर भटक रहा है। इन सब दुर्दशाओं से छुटकारा पाने का उपाय, दुःखों से मुक्त होने की युक्ति तथा सुख प्राप्त करने की सुन्दर विधि सुविधिनाथ परमात्मा ने वताई है। अतः वे जगज्जीवों के लिए वन्दनीय हैं, पूजनीय हैं, आराध्य हैं, संसेव्य हैं। यदि जगत् को दुःखों से उवरना है, सुख पाना है तो सुविधिनाथ प्रभु की वताई हुई सुविधि-सुन्दर विधि को अपनाना होगा। इस सुविधि से ही जगत् का निस्तार संभव है। यह सुविधि ही सुख की सुविधि है।

सुविधि की विधि :

सुविधि की विधि से तात्पर्य है भगवान् सुविधिनाथ के द्वारा प्ररूपित मार्ग। अब प्रश्न यह है कि वह कौनसी विधि है? कौन सा मार्ग है? जो उन सुविधिनाथ परमात्मा ने वताया है। इसका उत्तर है:—

सुहे पवित्ती, असुहाओ विणिवित्ती।

इस एक सूत्र में—गागर में सागर की तरह—उस विकट प्रश्न का उत्तर दे दिया गया है। शुभ में प्रवृत्ति और अशुभ से निवृत्ति करना ही सुख की विधि है, सुख का मार्ग है।

सिक्के के दो पहलू :

प्रवृत्ति और निवृत्ति, विधि और निषेध, एक ही सिक्के के दो पहलू हैं या एक ही रथ के दो चक्र हैं। सिक्के के दोनों ओर कुछ अंकन किया हुआ होता है। दोनों ओर का अंकन सही और ठीक-ठीक स्थिति में होने पर ही सिक्का सही माना जाता है। उसकी दोनों बाजुएं यथावत् होने पर ही वह अपना सही मूल्य पाता है। यदि सिक्का एक तरफ से घिसा-पिटा हो तो वह अपना सही मूल्य नहीं पा सकता है। एक चक्र के द्वारा रथ की गति संभव नहीं है। रथ के दोनों पहिये जब साथ-साथ घूमते हैं तब रथ की गति होती है और उसके द्वारा मंजिल पर पहुंचा जा सकता है, इसी तरह प्रवृत्ति और निवृत्ति रूपी दोनों चक्रों से ही धर्म-रथ की गति हो सकती है। प्रवृत्ति और निवृत्ति एक ही धर्मरूपी सिक्के के दो पहलू हैं। एक के बिना दूसरा अपूर्ण है। ये दोनों एक दूसरे के पूरक होते हैं, विरोधी नहीं। अशुभ से हटना निवृत्ति है और शुभ में लगना प्रवृत्ति है। विधि, प्रवृत्तिपरक है और निषेध निवृत्ति-परक। जब अशुभ से निवृत्ति की जाती है तो शुभ में प्रवृत्ति अवश्य होती है, शुभ में प्रवृत्ति होने पर अशुभ से निवृत्ति सहज हो जाती है। ये दोनों जीवन में साथ-साथ चलते हैं।

'सु' की सार्थकता :

वैसे तो क्रिया मात्र में—चाहे वह शुभ हो या अशुभ हो—विधि निषेध या प्रवृत्ति-निवृत्ति पाई जाती है। एक चोर अपने दूसरे चोर साथी के साथ परामर्श कर रहा है कि अमुक स्थान पर चोरी करना। दूसरा साथी कह रहा है कि नहीं, अमुक स्थान पर चोरी न करके अन्यत्र कहीं चोरी करना। इस प्रकार एक स्थान पर चोरी करने का निषेध किया जा रहा है और दूसरे स्थान पर चोरी करने का विधान किया जा रहा है। दोनों के मुंह से दो बातें निकल रही हैं। यह स्वाभाविक है कि एक स्थान पर चोरी करेगा तो दूसरे को छोड़ेगा। दूसरे से हट कर तीसरे स्थान पर जाएगा तो दूसरे को छोड़ना पड़ेगा। एक में प्रवृत्ति होगी, एक से निवृत्ति होगी। इस प्रकार बुरे कार्य में भी प्रवृत्ति-निवृत्ति का प्रसंग प्राप्त होता है, विधि-निषेध का अवसर उपस्थित होता है। इस दोष की निवृत्ति के लिए 'सु' उपसर्ग का प्रयोग किया गया है। सामान्य विधि-निषेध या सामान्य प्रवृत्ति-निवृत्ति यहां अपेक्षित नहीं है अपितु सुविधि और सु-निषेध, सम्यक् प्रवृत्ति और सम्यक् निवृत्ति ही धर्म का मार्ग हो सकती है।

'सु' का अर्थ होता है प्रशस्त, श्रेष्ठ, सुन्दर। सुन्दर विधि के साथ यदि प्रवृत्ति की जाती है, शुभ में यदि प्रवृत्ति की जाती है तो जीवन में प्रगति आती है, जीवन विकसित होता है और आत्मा ऊर्ध्वगामी बनता है। प्रशस्तता या सुन्दरता के अभाव में की जाने वाली प्रवृत्ति-निवृत्ति आत्मा को अधोगति में ले जाती है, संसार में रुलाती है और दुःखमय स्थिति उपस्थित करती है। इसलिए सुविधिनाथ प्रभु

ने अपने सार्थक नाम के अनुसार जगत् के सामने कल्याण, अभ्युदय और सुख की सुन्दर विधि निरूपित की है। उन्होंने कहा है कि शुभ में प्रवृत्ति और अशुभ से निवृत्ति करो। यही एक मात्र कल्याण का रास्ता है, सुख का स्रोत है और मोक्ष का मार्ग है। यदि मानव अपने जीवन में यह सुविधि अपनाता है, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में इस सुविधि को लागू करता है तो उसका जीवन मंगलमय वन जाता है। इस सुविधि को अपना कर मानव आनन्द की अक्षय निधि को हस्तगत कर लेता है।

विधि का दूसरा अर्थ होता है—कर्तव्य। सुविधि अर्थात् सत्कर्त्तव्य। कर्तव्य शब्द वहुत व्यापक और विशाल अर्थ को लिए हुए है। कर्तव्य के क्षेत्र में समस्त करणीय कार्यों का समावेश हो जाता है। जो व्यक्ति जिस स्थान पर है, जिस पद पर है, उसके अनुरूप उसका कर्तव्य निर्धारित होता है।

एक व्यक्ति यदि वह साधु-जीवन व्यतीत कर रहा है तो उसका कर्तव्य साधु-जीवन की मर्यादा के अनुरूप होगा। यदि वह उस मर्यादा का अतिक्रमण करता है तो वह उसका अकर्तव्य कहलाएगा। उदाहरण के वतौर समझ लें कि साधु आरम्भ-समारम्भ और हिंसा का सर्वथा त्यागी होता है। वह कोई ऐसी क्रिया नहीं कर सकता, जिसमें लघुतम प्राणियों की भी हिंसा होती हो। वह गमनागमन की क्रिया भी ईर्या समिति का ध्यान रखते हुए करता है। यदि वह ऐसा नहीं करता है तो अकर्तव्य का सेवन करता है।

साधनामय जीवन में भाषा का वड़ा महत्त्व होता है।

अतएव साधु भाषा का प्रयोग करते हुए भाषा-समिति का ध्यान रखता है। यदि वह इस मर्यादा का अतिक्रमण करता है तो वह अकर्तव्य का आचरण करता है।

बिना दिये हुए साधु किसी वस्तु को नहीं लेता। यह उसकी आचार-विधि है। लेकिन यदि वह यहां लगे हुए कलेन्डर (तिथिपत्र) को भी बिना गृहस्थ की आज्ञा लिये हाथ लगाता है, देखता है तो यह उसके लिए अकर्तव्य है।

विकारी भावना से यदि वह स्त्रियों से बातचीत करता है अथवा एकांत में बिना पुरुष की साक्षी के स्त्री से बोलता है तो वह भी उसके लिए अकर्तव्य है।

यदि कोई साधु रुपयों-पैसों के विषय में या चंदे-चिट्ठे में भाग लेता है, इतने रुपये इकट्ठे होने चाहिए, इतना चंदा देना चाहिए, इतना अमुक सेठ सा. दें, इतना अमुक व्यक्ति दे, इस प्रकार की प्रवृत्ति यदि साधु करता है तो वह अकर्त्तव्य की ओर जा रहा है। कर्तव्य-मार्ग से वह हट रहा है। साधु जीवन की अपेक्षा से जो अकर्तव्य हैं, वे किन्हीं प्रसंगों में गृहस्थ के लिए कर्तव्य हो जाते हैं। गृहस्थ की स्थिति में रहा हुआ व्यक्ति छोटे प्राणियों की हिंसा से आरंभिकी हिंसा से बच नहीं सकता। वह संकल्पी हिंसा का त्याग करता है किन्तु जीवन निर्वाह के लिए, परिवार-समाज तथा राष्ट्र के प्रति अपने कर्तव्य को निभाने के लिये वह आरंभिकी हिंसा से बच नहीं सकता।

मान लीजिए किसी गृहस्थ के घर [illegible] बीमार हैं। पर्युषण के दिन हैं—[illegible]

हैं। संवत्सरी का दिन आ गया। इस दिन जैन समाज में परिपाटी है कि छोटे-छोटे बच्चे भी उपवास करते हैं, पौषध करते हैं, आरम्भ-समारम्भ से बचते हैं, चौके-चूल्हे को छुट्टी रहती है। यदि वह गृहस्थ अपने बीमार, अशक्त और वृद्ध माता-पिता की सेवा-शुश्रूषा के लिए आरंभ समारंभ करता है, भोजन बनाता है—खिलाता है तो वह अपने कर्तव्य का निर्वाह करता है। यदि वह ऐसा न करते हुए, उनकी समुचित देखभाल की अन्य व्यवस्था न करके माता-पिता को उनके भाग्य भरोसे छोड़ कर अष्ट प्रहर का पौषध करनें स्थानक में चला जाता है तो वह गृहस्थ अपने कर्तव्य-मार्ग से पतित होता है। जो व्यक्ति उसके आश्रित हैं उनके खानपान की व्यवस्था किये बिना यदि वह पौषध कर लेता है तो उसको 'भत्तपाण विच्छेद' (आहार पानी का विच्छेद) नामक अतिचार लगता है। यदि वह अपनी जवाबदारी किसी सुयोग्य व्यक्ति को संभला कर पौषध करता है तो वह कर्तव्य की श्रेणी में है। तब अकर्तव्य की स्थिति नहीं बनती। इस तरह साधु जीवन और गृहस्थ-जीवन के कर्तव्य अधिकारी भेद के कारण पृथक्-पृथक् होते हैं। जो साधु-जीवन के कर्तव्य हैं, वे सब गृहस्थ के भी कर्तव्य हों, ऐसा एकान्त नहीं हो सकता। उनमें अन्तर आ जाता है। सम्य-ग्दृष्टि, गृहस्थ अवस्था में रहता हुआ समताभाव से परिवार के सदस्यों के प्रति अपने दायित्व को निभाता हुआ कर्तव्य का आराधक होता है।

सम्यग्दृष्टि आत्मा अपने अन्तरंग नेत्रों को उद्घाटित रखता है, यह बात कल के व्याख्यान में बताई गई थी। आपको वह बात याद रही हो, या न रही हो, यह तो आप

जानें क्योंकि प्रायः कई लोग एक कान से सुनकर दूसरे कान से निकाल देने वाले होते हैं। आप सम्यग्दृष्टि हैं और आपके अन्तरंग नेत्र खुले हैं, यह बात तो कसौटी करने पर ही ज्ञात हो सकती है।

देवकी का कर्तव्य बोध :

महारानी देवकी का प्रसंग चल रहा है। महारानी देवकी शयनकक्ष में पलंग पर बैठी हुई अपने कर्तव्य का अनुसंधान कर रही है। वह सोच रही थी कि मैंने गृहस्थ अवस्था की दृष्टि से कठोर व्रत का निर्वाह किया, पातिव्रत धर्म में दृढ रह कर कर्तव्य को ठीक तरह से निभाया। पतिदेव भी मुझे ऐसे मिले, जिन्होंने अपने वचनों की रक्षा के लिए प्राणप्रिय पुत्रों को कंस को सौंप दिया। मेरे पति बडे सत्यनिष्ठ हैं। उन्होंने अपने कर्तव्य का निर्वाह किया। लेकिन जब मैं माता के कर्तव्य और दायित्व का विचार करती हूँ तो मुझे दुःख होता है कि मैं उस दायित्व और कर्तव्य को निभाने में असमर्थ रही।

माता का दायित्व :

सन्तान के प्रति पिता की अपेक्षा माता का दायित्व विशेष होता है। माता केवल जन्म देने वाली मशीन नहीं है अपितु वह सन्तान के जीवन का निर्माण और संस्कार करने वाली कुशल शिक्षिका है। वह सन्तान के जीवन की निर्मात्री और संस्कार दात्री होती है। सन्तान रूपी कच्ची मिट्टी को सुन्दर कलश का रूप दे देना, उसकी ही [illegible] है। बालक के गर्भ में आते ही माता की जवाबदारी

हो जाती है । विवेकवती गर्भवती माताएं अपने विचारों और अपने रहन-सहन को इस प्रकार का मोड़ देती हैं कि जिससे गर्भस्थ बालक पर सुन्दर संस्कार पड़ते रहें। उसकी कूंख से जन्म लेने वाला बालक तेजस्वी, बलिष्ठ, निर्भीक, नीति-सम्पन्न और राष्ट्रीय चरित्र की गरिमा को लिये हुए हो, ऐसी भावना प्रत्येक माता की रहनी चाहिए। इस भावना को साकार करने हेतु माता को कई मर्यादाएं अपनानी होती हैं, खान-पान में तथा रहन-सहन में संयमशील होना पड़ता है । ऐसी कई मर्यादाओं का शास्त्रों में उल्लेख मिलता है ।

गर्भावस्था में माता की दुहरी जबाबदारी होती है। यदि वह उस अवस्था में विकारी भावना लेकर चलती है तो इससे उसका तो अहित होता ही है, गर्भस्थ बालक पर भी दुष्प्रभाव पड़ता है । गर्भवती स्त्री यदि झूठ बोलती है, गुस्सा करती है, झगड़ा करती है तो उसकी सन्तान में भी असत्य, क्रोध और क्लेश-कंकाश की बहुलता होगी । माता की प्रक्रियाओं का असर गर्भस्थ सन्तान पर पड़ता है। अतएव माताओं को इस विषय में पर्याप्त सावधानी बरतनी चाहिए ।

देवकी महारानी सोच रही है कि 'मैंने इन सब बातों का तो ध्यान रखा, इन सब अनमोल लालों को सवा नौ मास तक गर्भ में संरक्षण दिया परन्तु इससे आगे के कर्तव्यों को पूर्ण करने में मैं लाचारीवश असमर्थ रही । यह मेरे अशुभ कर्मों की कैसी विडम्बना है कि मैं सात-सात लालों की जननी होते हुई भी उनके प्रति मातृत्व के कर्तव्यों को निभा न सकी । आज जो त्रिखंड का अधिपति है, भरत क्षेत्र

में जिसकी बराबरी का कोई नहीं, उस कृष्ण को मैंने जन्म दिया लेकिन उसके लालन-पालन और संस्कार प्रदान करने के मेरे दायित्व को मैं निभाने में असमर्थ रही।'

देवकी की विचारधारा आगे चली, 'मैंने उन छह सहोदर बन्धुओं को जन्म दिया। यह मेरा बड़ा सद्‌भाग्य है कि ऐसे नलकुबेर के समान सुन्दर छह लाल मेरी कूंख से जन्मे। परन्तु सचमुच क्या यह मेरा दुर्भाग्य नहीं कि मैं इन छह पुत्रों का लालन-पालन न कर पाई, इनमें अपने संस्कार न डाल पाई। क्या ही अच्छा होता यदि मैं इन्हें वात्सल्य भाव से, माता की ममता से अपने स्तनों का पान कराती और दूध पिलाती हुई उनमें सुन्दर संस्कार डालती। क्या ही अच्छा होता यदि मैं इन्हें सुसंस्कारित, सुशिक्षित और धार्मिक बनाकर स्वयं अपने हाथों से भगवान् अरिष्ट-नेमि के चरण-शरण में जिनशासन की सेवा के लिए समर्पित करती।

यों चिन्तन करती हुई देवकी महारानी बहुत गहराई में उतर गई। मातृत्व के कर्तव्यों को निभाने में मिली हुई असफलता के प्रति उसे शोक हो आया। उसके बाह्य स्वरूप को सीधे सादे शब्दों में कवि ने इस प्रकार प्रकट किया है—

इम झुरे देवकी रानी रानी
मैं तो पुत्र विना विलखानी जी। इम०
मैंने सातों नन्दन जाया
पिण एक न गोद खेलाया जी ।। इम०
नहीं स्तन पान मैं करायो,
रूठता ने नहीं मनायो रे। इम झुरे०

महारानी देवकी के कर्तव्य-भावों की अभिव्यक्ति को साधारण जन इन कड़ियों द्वारा समझ सकते हैं, इस दृष्टि से इनका यहां उच्चारण किया गया है। देवकी सोचने लगी कि मैंने सात पुत्रों को जन्म दिया परन्तु विधि की कैसी विडम्बना है कि एक को भी गोद में खेला न पाई, स्तनपान न करा सकी और रूठते हुए को मनाने का सौभाग्य न पा सकी। यहां देवकी की यह भावना कर्तव्य-निष्ठा को लेकर है, माता के दायित्व की दृष्टि से है। माता का दायित्व गुरुतर है। ममता और वात्सल्य की धारा से संतान को सिञ्चित करती हुई वह उसमें संस्कारों का बीजारोपण करती है। वे ही बीज अंकुरित और पल्लवित होकर संतान के जीवन का निर्माण करते हैं।

दुःख का विषय है कि आजकल माताएं सन्तानों को जन्म तो देती हैं किन्तु उन्हें संस्कारित करने की ओर ध्यान नहीं देती। वैसे तो मादा पशु पक्षी भी अपने बच्चों को जन्म देती ही है। अपनी क्षमता के अनुसार अपनी भाषा में संकेतों द्वारा वे भी सन्तति को शिक्षित करते हैं। आप समझ पाएं या न समझ पाएं, गाय की आवाज को बछड़ा पहचान लेता है और बछड़े की आवाज को गाय पहचानती है। पक्षी अपने घोंसलों में किस प्रकार शिशुओं को सुरक्षित रखते हैं, पालते हैं, चुग्गा चुगाते हैं और किस प्रकार उन्हें स्वावलम्बी बना कर गगन में स्वतंत्र रूप से उड़ सकने की क्षमता प्रदान करते हैं। वे अपनी क्षमता के अनुपात से सन्तान को योग्य बनाने का प्रयत्न करते हैं। मानव पर्याय में रही हुई माताएं क्या अपने ज्ञान के अनुरूप सन्तान को संस्कारित करने का प्रयत्न करती हैं? खाने-पीने के साधन

भले ही जुटा देते हैं, [illegible] नाश्ता करा देते हैं सुन्दर वस्त्र पहना देते हैं, इतने में अपने कर्तव्य की इतिश्री मान लेते हैं। कुछ माता-पिता बालक की शरारतों से तंग आकर उन्हें बाल्य स्कूल में प्रविष्ट करा देते हैं ताकि वे बच्चों की शरारतों से छुट्टी पा जाएं। विद्यालयों में प्रविष्ट करा देने के पश्चात् माता-पिता यह मान लेते हैं कि अब उनकी देख-रेख की जवाबदारी पूरी हो गई। अब सारी जवाबदारी शिक्षक की समझ ली जाती है। परन्तु ऐसा मान लेना स्वयं को धोखा देना है। बालक स्कूल में क्या पढ़ रहा है, उसको कैसा वातावरण मिल रहा है, वह किसकी संगति में रह रहा है, उसका चरित्र बन रहा है या बिगड़ रहा है, वह व्यसनों का शिकार तो नहीं हो रहा है, इत्यादि बातों के प्रति माता-पिता प्रायः लापरवाह होते जाते हैं। पुरुष वर्ग को अपने धंधे के आगे यह सब देखने की फुरसत नहीं है, माताओं को अपने घर के धंधों और पराये घर की बातों से ही अवकाश नहीं रहता तो सन्तान को सुसंस्कार कहां से और कैसे मिलेंगे ?

सुसंस्कारों के अभाव में बालक उद्दण्ड, स्वच्छंद और उद्धत बन जाते हैं, व्यसनों के चक्कर में पड़ जाते हैं। माता-पिता की लापरवाही के कारण बच्चों में बाहर से आये हुए कुसंस्कार दृढ़ बन जाते हैं और उसका दुष्परिणाम कालान्तर में उन्हें स्वयं को भोगना पड़ता है। कई लोग हमारे पास ऐसे किशोरों और नवयुवकों को लाते हैं और हमसे उनके सुधार की आशा रखते हैं। परन्तु यह बड़ी कठिन बात है। कोमल वय में उन्हें सुसंस्कार नहीं दिये गये, उस समय उनकी ओर ध्यान नहीं दिया गया। य

कुसंस्कार रूढ़ और दृढ़ बन गये। अब उनका परिमार्जन होना कठिन हो जाता है। अतएव माता-पिता को संतान के प्रति अपने दायित्व का निर्वाह ठीक रीति से करना चाहिए क्योंकि बालक कोमल वय में ही संस्कारों को ग्रहण करता है। मिट्टी जब तक मुलायम और गीली है तभी तक कुम्भकार उससे इच्छित पात्र बना सकता है। बचपन के संस्कार ही बालक के जीवन का निर्माण करते हैं। लोरियां सुना कर माताएं अपनी सन्तान को वीर, तेजस्वी और कर्तव्य-निष्ठ बना सकती हैं। मारवाड़ी भाषा में एक प्रसिद्ध लोरी बड़ी मर्मस्पर्शी है—

बालो पांखां बाहर आयो, माता बैण सुणावे यूं।
म्हारी कूंख सिलाइजे बाला मैं थने सखरी घूंटी दूं।
गोदी सूतो बालो चूंखे माता बैण सुणावैं यूं।
धोळा दूध में कायरता को काळो दाग न लाइजे तूं।

वीर माता अपने पुत्र को दूध पिलाती हुई कहती है—'रे पुत्र! मैं तुझे अपने स्तनों का स्वच्छ, सुन्दर, निर्मल और मधुर दूध पिला रही हूँ। तू जैसा सफेद और स्वच्छ दूध पी रहा है उसके अनुरूप ही अपने जीवन को स्वच्छ और साफ सुथरा रखना। दुनिया के रंगमंच पर तुम्हारी कीर्ति इस श्वेत दूध के समान तथा चन्द्रमा की चांदनी की तरह फैले। तुम्हारे जीवन में दिव्यता प्रकट हो। याद रखना, तुम ऐसा कोई कार्य मत करता जिससे मेरे सफेद दूध में काला दाग लगने का प्रसंग आवे। तू अपने जीवन को बेदाग रख कर मेरे दूध को बेदाग रखना। तू अपने जीवन-व्यवहारों से जगत में यशस्वी बन कर मेरी कूंख को

गौरव प्रदान करना। तू ऐसी कायरता या अनैतिकता का आश्रय मत लेना जिससे मेरी कूंख लज्जित हो, मुझे नीचा देखना पड़े। हे वीर बालक ! तू अपने निर्मल जीवन से निर्मल यशोराशि अर्जित करना और मेरे निर्मल दूध को निर्मल बनाये रखना। मुझे वीर-जननी का गौरव प्रदान करना।'

इस प्रकार की उदात्त शिक्षाएं देने वाली माताएं जगत् का कायाकल्प कर सकती हैं।

मदालसा की शिक्षाएं :

ऐसा कहा जा सकता है और कई व्यक्ति कहते भी हैं कि माता केवल मोहवश संतान का पालन-पोषण करती है। परन्तु यह कथन भ्रमपूर्ण है। विवेकवती माताएं मोह के वशीभूत होकर नहीं, अपितु कर्तव्य बुद्धि से शिशु का संगोपन करती है। ऐसा करते हुए अनेक स्थितियों में वह मोह का परित्याग करती है। मोह को छोड़े बिना माताएं अपनी सन्तति को सुसंस्कारित नहीं बना सकतीं। मोह मूढ़ माताएं सन्तान को सुशिक्षित और सुसंस्कारित नहीं कर सकतीं। जब वे मोह से ऊपर उठती हैं और कर्तव्य भावना से अनुप्राणित होती हैं तभी संस्कार और शिक्षाएं दी जा सकती हैं। पुराणों में मदालसा का वर्णन आता है।

मदालसा अपनी कूंख में आई संतति को मोह-निवृत्ति की शिक्षा देती थी। मोह-निवृत्ति की शिक्षा देने वाली माता स्वयं मोहग्रस्त कैसे हो सकती है ? वह कर्तव्य भावना से—शुभ भावना से प्रेरित होकर सन्तति को संस्कार प्रदान करती थी। उसने अपने पुत्रों को ऐसी शिक्षा दी

जिससे वे सांसारिक मायाजाल में आबद्ध न होकर आध्यात्मिक साधना में लगे। कुटुम्ब की आसक्ति और सांसारिक मोह का परित्याग कर वे परमात्मा की भक्ति में लग गये।

महारानी मदालसा की इस प्रवृत्ति का जो परिणाम सामने आया, उससे महाराजा विह्वल हो गये और कहने लगे कि 'महारानी, तुम यह क्या कर रही हो? अपनी सन्तानों को साधु बना रही हो, सब साधु बन जाएंगे तो राज्य के उत्तरदायित्व को कौन संभालेगा? मैं क्या अन्तिम दम तक संसार के प्रपंचों में ही उलझा रहूँगा? मैं आत्मकल्याण की साधना कब करूंगा?

महारानी मदालसा बोली, 'प्राणनाथ! आप चिन्ता न करिये। बच्चों को घड़ना मेरे हाथ का खेल है। कुम्भकार अपनी इच्छानुसार पात्र बना लेता है। मैं अपनी भावना के अनुसार संतान को घड़ सकती हूँ। मुझ में इतना आत्मविश्वास है। इस बार मैं अपने पुत्र को ऐसी शिक्षा दूंगी, जिससे वह आपको निवृत्ति दे सकेगा और आप आत्मकल्याण के मार्ग पर चल सकेंगे। वह राज्य की धुरा को वहन करेगा और अन्त समय में वह भी अपनी संतान को राज्य सौंप कर आत्मकल्याण हेतु निकल पड़ेगा। महारानी ने अपने एक पुत्र को वैसे ही संस्कार दिये।

मदालसा महारानी मोहभाव के ऊपर उठी हुई थी, अतः वह अपनी सन्तान को कर्तव्य भावना से प्रेरित होकर सुन्दर संस्कार दिया करती थी। वह दूध पान कराते समय, झूला झुलाते समय तथा अन्य रीति से शिशुओं का संगोपन

करते हुए कैसे संस्कार देती है, इसका चित्रण इस श्लोक में किया गया है –

शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरञ्जनोसि ।

'हे पुत्र ! तू शुद्ध है, बुद्ध है, निरञ्जन है, निराकार है और संसार के बन्धनों से मुक्त है । मोह की निद्रा का परित्याग कर । जागृत होकर जीवन को समुज्ज्वल बना ।'

महारानी मदालसा इस प्रकार के संस्कार अपनी सन्तान में उंडेला करती थी । क्या कोई मोह-ग्रस्त माता ऐसा कर सकती है ? मोह से ऊपर उठी हुई माताएं ही कर्तव्य भावना से अपनी संतति को सुसंस्कारित बनाती हैं ।

महारानी देवकी का भी इसी तरह का चिन्तन चल रहा है । वह सोच रही थी कि मैंने अपनी सन्तानों को इस प्रकार के संस्कार नहीं दिये । यदि मैं भी अपने पुत्रों को मदालसा की तरह संस्कारित करती और उन्हें भगवान् नेमिनाथ के चरणों में समर्पित करती तो कितनी पुण्य-शालिनी होती । जिनेन्द्र देव के शासन की सेवा के लिए यदि मैं अपने हृदय के टुकड़े इन छह अद्भुत रत्नों को अपने हाथों से अर्पण करती तो मेरा जीवन कितना धन्य हो जाता ।

क्या यह झूरना आर्तध्यान है ?

कोई कह सकता है कि देवकी महारानी का यह झूरना आर्तध्यान की कोटि में आता है । परन्तु यह कथन यथार्थ नहीं है । जो झूरना मोह को बढ़ाने वाला होता है,

मोह से जन्य होता है या मोह में परिणत होता है वह आर्तध्यान की कोटि में है। कर्तव्य दृष्टि को लेकर किया गया शोक संताप आर्तध्यान की श्रेणी में नहीं आता। धर्म, गुरु या तीर्थ के प्रति जो राग का प्रसंग होता है, वह प्रशस्त राग कहा जाता है। इसकी पुष्टि में यदि आप शास्त्रीय प्रमाण चाहते हैं तो भगवती सूत्र में वर्णित सिंह अनगार का वृत्तान्त देखें।

जब प्रभु महावीर के शरीर में अतिसार (खून की दस्तें लगना) रोग उत्पन्न हो गया, तब मुनिगण चिन्तित हो उठे। सिंह अनगार तो इतने विह्वल हो उठे कि वे रुदन करने लगे। प्रभु महावीर ने उन्हें आश्वस्त करते हुए कहा कि 'सिंह ! तुम चिन्ता न करो। मेरा अभी कुछ बिगड़ने वाला नहीं है। तुम चाहो तो इस रोग के निवारण हेतु औषधि ला सकते हो। उनको औषधि लाने भेज दिया। सिंह अनगार का यह रुदन आर्तध्यान में नहीं है। यह प्रशस्त स्थिति है। देवकी महारानी का यह झूरना उत्तम जीवन की भावना-कर्तव्य दृष्टि को लेकर था, अतः उसको प्रशस्त समझना चाहिए।

कर्तव्य-निष्ठा :

महारानी देवकी कर्तव्यनिष्ठ थी। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उसने अपने पति के वचनों की रक्षा के लिए अपने पुत्रों को कंस को सौंप दिया। महारानी देवकी चाहती तो वह कह सकती थी कि 'वचन महाराज ने दिया है, मैंने कोई वचन नहीं दिया है। मैं अपने पुत्रों को क्यों कर सौंपू ? लेकिन महारानी देवकी ने ऐसा कोई विचार नहीं किया। पति ने जो कह दिया, वह उसे मान्य हुआ।

उसने अपने पति की प्रतिज्ञा का पालन करने के लिए अपने हृदय के टुकड़ों को कंस को सौंप दिया। यह कर्तव्य भावना है। मोह पर विजय प्राप्त किये बिना ऐसी कर्तव्य-निष्ठा नहीं आ सकती।

कृष्ण वासुदेव का विनय :

कर्तव्यनिष्ठ महारानी देवकी का प्रभाव उनके अंग-जात कृष्ण वासुदेव पर पड़ना स्वाभाविक है। कृष्ण त्रिखंड के अधिपति थे। कर्तव्यपरायणता में वे बहुत आगे बढ़े हुए थे। तीन खंड के नाथ होते हुए भी वे कर्तव्यों के प्रति बहुत जागरूक थे। वे प्रतिदिन अपनी माताओं को नमन करने आया करते थे। कितना विनय भाव था कृष्ण वासुदेव में! क्या आप लोग भी अपने माता-पिता के चरणों में प्रतिदिन नमन करते हैं?

आजकल तो थोड़ा बहुत अक्षर ज्ञान हो जाने पर अथवा बी. ए., एम. ए. की डिग्री प्राप्त कर लोग अभिमान से फूले नहीं समाते। वे न जाने अपने आपको क्या समझने लगते हैं? माता-पिता को नमन करने में उन्हें लज्जा का अनुभव होता है। मैं पूछना चाहता हूँ कि त्रिखंडाधिपति बड़े थे या ये उपाधिधारी? यह सोचने की बात है। उपाधियों के साथ जब पद की प्राप्ति हो जाती है तो कहना ही क्या? वकील, डाक्टर या मिनिस्टर बन जाने पर तो आकाश में उड़ने लगते हैं। उनके पैर जमीन पर नहीं टिकते। वे भला माता-पिता का क्यों विनय करें। यह दुष्परिणाम है असंस्कारों का। यदि माताओं ने प्रारम्भ से ही सुसंस्कार दिये हों तो यह स्थिति नहीं आ सकती।

कृष्ण वासुदेव आज नमन के लिए माता देवकी के पास पहुंचे । उस समय देवकी अपने कर्तव्य के विषय में गहन चिन्तन कर रही थी । वह उदास मुद्रा में बैठी थी। अन्यदा जब कृष्ण वासुदेव वन्दन के लिए आते, तब माता उनको देख कर बड़ी प्रफुल्लित होती थी और उन्हें आशीर्वाद देती थी । लेकिन आज कृष्ण ने देखा कि माता उदास बैठी है । मेरे आगमन की बात भी उन्होंने न जानी । नजदीक आकर कृष्ण ने माता के चरणों में अपना मस्तक छुवाया । बन्धुओ ! क्या आप भी इस प्रकार विनयपूर्वक गुरुजनों के सन्मुख मस्तक नमाते हैं ? क्या संतों को भी विधिपूर्वक उठ-बैठ कर वंदना करते हैं या खड़े खड़े ही 'मत्थेण वन्दना' कर लेते हैं ? शरीर को कष्ट कौन दे ? संतों को आपकी वन्दना की कामना नहीं है लेकिन यह वन्दना की विधि नहीं है । यह अविनय और अविधि है । मुंह के आगे रुमाल या दुपट्टा लगा कर उठ-बैठ कर वन्दना करने और चरण छूने से संतों के प्रति विनय प्रकट होता है और आपका अभिमान गलता है । माता-पिता आदि गुरुजनों को मस्तक नमा कर वन्दन करना चाहिए ।

कृष्ण वासुदेव ने अपना मस्तक माता देवकी के चरणों में झुकाया । प्रगाढ़ स्पर्श से माता का ध्यान आकर्षित हुआ । माता बोली, 'कन्हैया, आ गया रे !'

कृष्ण बोले हां, माताजी ! मैं आ गया । परन्तु आज आप उदास क्यों हैं ? क्या बात है ? आपका पुत्र त्रिखंडाधिपति कहलाता है, सारे राज्य की जनता की सुधि लेने वाला है, प्रत्येक व्यक्ति के आंसू पोंछने वाला है, उसकी माता दुखी और उदास हो, यह मैं नहीं देख सकता । मुझ से

या परिवार के किसी सदस्य से या अन्य किसी व्यक्ति से कोई त्रुटि हुई हो तो उसका निवारण करने को तैयार हूँ। आप वताइये, आप उदास क्यों हैं ? माता बोली, 'कृष्ण ! तू वड़ा विनयी और गुणी है। किसी से कोई त्रुटि नहीं हुई है, न किसी साधन सामग्री की कमी ही है। तदपि विधि की विडम्बना है कि तेरी माता वड़ी दुखी है।

कृष्ण—मेरी माता दुःखी है तो दुनिया में सुखी कौन होगा ?

माता—लाल ! मेरा दुःख कुछ और ही प्रकार का है ! मुझे सारी सुख-सुविधा की सामग्री प्राप्त है, सारा परिवार विनयपूर्वक मेरी सेवा में रत है परन्तु लाल ! मैंने तुम्हारे जैसे सात लालों को जन्म दिया लेकिन मातृत्व के कर्तव्य का निर्वाह करने का आनन्द मैं प्राप्त न कर सकी। यही मेरी चिन्ता का विषय है। तेरा लालन-पालन गोकुल में हुआ, तेरे जन्म से पहले तेरे छह भाई जनमे, जिनके विषय में मैं समझती थी कि वे कंस के द्वार मार दिये गये परन्तु अव ज्ञात हो गया कि वे सुरक्षित हैं और मुनि वन कर आध्यात्मिक साधना कर रहे हैं। ऐसी असाधारण अद्वितीय सात सन्तानों को जन्म देने के बावजूद मैं मातृत्व के दायित्व से वंचित रही, यही मेरी उदासी का कारण है।

कृष्ण ने सोचा—माता, मातृत्व के कर्तव्यों को न निभा पाने के कारण चिन्तित हैं, उन्हें ऐसा प्रसंग प्राप्त नहीं हुआ तो क्यों न मैं वालक वन कर उनकी इच्छा की पूर्ति कर दूं। उन्होंने कहा—'माता, आप चिन्ता न करें। मैं अभी आपकी इस अभिलाषा की पूर्ति कर देता हूँ।' ऐसा

कह कर कृष्ण ने अपनी वैक्रिय लब्धि से छोटे शिशु का रूप धारण कर लिया और मां की गोद में बैठ गये।

माता उस छोटे शिशु को—छोटे से कन्हैया को मातृ-स्नेह से सिञ्चित करने लगी अर्थात् विविध प्रकार से लाड़ लड़ाने लगी। मां की ममता उमड़ पड़ी और वात्सल्य की सरिता बहने लगी।

कृष्ण अपनी बाल लीला बताने लगे। वे बोले, 'मां! दूध।' माता कटोरे में दूध भर लाई और पिलाने लगी। दूध का एक घूंट लेते हुए बच्चा बोला, 'मां, मीठा नहीं है यह तो फीका है।' माता ने दूध मीठा करने के लिए शक्कर डाली। फिर एक घूंट लेकर बच्चा बोला 'मां यह तो बहुत मीठा हो गया, मैं नहीं पीता। शक्कर निकाल लो। मां, शक्कर निकाल लो।

माता—'दूध में से शक्कर नहीं निकाली जा सकती बेटा! दूसरा दूध ले आती हूं।'

बालक नहीं मां, मैं दूसरा दूध नहीं पीऊंगा। इसी में से शक्कर निकालो न, मां।

बच्चा मचलने लगा। हठ करने लगा। बाल-हठ प्रसिद्ध ही है। माता हैरान हो गई! बोली—'लाल! तुम्हारी लीला समेटो।

कृष्ण ने वैक्रिय लब्धि समेट ली। वे अपने मूल-स्वरूप में माता के सामने खड़े हो गये। माता से पूछा—'मां, तुम्हारी तुष्टि हुई?'

देवकी माता बोली, 'लाल, कृत्रिम तो कृत्रिम ही है और स्वभाव, स्वभाव ही होता है। कृत्रिमता से तुष्टि कैसे हो सकती है ? मेरी तुष्टि तो तब हो, जब तुम्हारा छोटा भाई जन्म ले और मैं उसके प्रति सहज और स्वाभाविक रूप से मातृत्व के कर्तव्यों को निभाने का आनन्द ले सकूं। कृष्ण बोले—'माता ! तुम चिन्ता न करो। मैं यह प्रयत्न करूंगा। आपको सन्तुष्ट करना मेरा कर्तव्य है। इस कर्तव्य को निभाने का मैं पूरा-पूरा प्रयत्न करूंगा।'

यह कह कर कृष्ण वहां से चले गये। उनके सामने एक समस्या खड़ी हो गई। लघु भ्राता कहां से लाऊं ? सोचते-सोचते उन्हें ध्यान आया कि माता के कथन से ज्ञात होता है कि अतिमुक्तक मुनि ने जो कहा था कि 'आठ पुत्रों को जन्म देने वाली तुम्हारी सरीखी अन्य माता न होगी,' सात भाई हम हो चुके हैं तो अवश्य ही आठवें की संभावना है। मुनि के वचन अन्यथा नहीं हो सकते। अतएव प्रयत्न करना चाहिए। इस कार्य में उन्होंने अपने पूर्व संगतिक देव की सहायता लेने का विचार किया।

विवेकशीलता :

वे पौषधशाला में आये। वहां आकर स्वयमेव भूमि का प्रमार्जन किया। ध्यान देने की बात है। त्रिखंड के नाथ अपने हाथों से भूमि को बुहारते हैं। इसके लिये उनके यहां नौकर-चाकरों की कमी थी क्या ? नहीं। सम्यग्दृष्टि आत्माओं का प्रत्येक व्यवहार विवेक को लिए रहता है। हाथ से काम करने में विवेक और यतना का पालन विशेष रूप से होता है। नौकरों के द्वारा कराये गये काम में विवेक

और यतना का कोई खयाल नहीं रखा जाता है। धर्म स्थान में विशेष रूप से विवेक और यतना का उपयोग रखा जाना चाहिए।

हाथ से काम करना अपनी पोजिशन के खिलाफ नहीं अपितु अपनी सही पोजिशन को बढ़ाने वाला होता है। जीवन में यदि सात्विकता लानी है, जीवन को साफ-सुथरा रखना है तो सादगी का अवलम्बन लेना होगा। यह तड़क-भड़क, आडम्बर, दिखावा, मिथ्या बड़प्पन छोड़ना होगा। जब बड़े समझे जाने वाले व्यक्ति हाथ से विवेकपूर्वक काम करना शुरु करेंगे तो उनका जीवन तो सुधरेगा ही, साथ ही वे दूसरों के समक्ष आदर्श उपस्थित कर सकेंगे। श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करते हैं वैसा ही आचरण अन्य लोग भी करने लगते हैं। इसलिए समाज में बड़े समझे जाने वाले जाने-माने व्यक्तियों की बड़ी जबावदारी होती है। वे अपने व्यवहार के द्वारा समाज को ऊंचा भी उठा सकते हैं और नीचे भी गिरा सकते हैं। यदि वे अनैतिक बनते हैं, अविवेकपूर्ण कार्य करते हैं, आडम्बर और दिखावा करते हैं तो समाज विकृत बनता है। यदि वे सुधरते हैं तो समाज सुधरता है। अतएव बड़े लोगों की बड़ी जिम्मेवारी हुआ करती है। बड़े लोगों का विवेक सदा जागृत रहना चाहिए।

धर्मस्थान की भी अपनी मर्यादा होती है। विवेक के साथ उसका निर्वाह होना चाहिए। संतों के साथ बातचीत करते समय यतना का ध्यान रखना चाहिए। खुले मुंह नहीं बोलना चाहिए। मुंह के सामने रुमाल लगाना चाहिए। यह अपनी धार्मिक मर्यादा है। साथ ही यह शिष्टाचार भी है। कई बार बोलते समय मुंह से थूक भी

निकल पड़ता है, यह अशिष्टता है । अतएव विवेक का पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिए । धर्मस्थान में गमनागमन करते समय ईर्या समिति का भी उपयोग रखना चाहिए । रात्रि को पूंज कर चलना चाहिए । इसके लिए उपकरणों की समुचित व्यवस्था होनी चाहिए । धर्मस्थानकों में बैठकें, पूंजणियां, रजोहरण, मुख वस्त्रिका, माला आदि उपकरणों की वहुलता होनी चाहिए ताकि वाहर से धर्माराधना करने हेतु आने वाले भाई-वहिनों को भी उनका लाभ मिल सके । कई स्थानों पर ऐसी व्यवस्था है । देशनोक का संघ तो विचक्षण और विवेक-सम्पन्न है ही । प्रसंगवश यह संकेत किया गया है ।

कृष्ण ने पौषधशाला में जाकर भूमि का प्रमार्जन किया, शय्या संस्तारक विछाया और तीन दिन का पौषधोपवास अंगीकार किया । अपने पूर्व संगतिक देव को आह्वान करने हेतु उसका एकाग्रचित्त से ध्यान करने लगे ।

ध्यान की महिमा अपार है । एकाग्र चित्त से जव मन के तार जुड़ते हैं तो देवता तो क्या, प्रभु के साथ भी संबंध जुड़ सकता है । आप लोगों को फोन पर वात-चीत करने का अभ्यास है ही ! जव आप डायल घुमाते हैं या आपरेटर से नम्वर मांग कर तार जोड़े जाते हैं तव वम्वई, कलकत्ता आदि दूर-दूर के स्थानों से आप वातचीत करते हैं । फोन करते समय सव ओर से अपना ध्यान हटा कर आप केवल संवन्धित व्यक्ति से वात करने में ही तन्मय रहते हैं, तव वात हो पाती है । इसी तरह जव चित्त के तार जुड़ते हैं तव दूर-दूर के पदार्थों से सम्पर्क किया जा सकता है ।

कृष्ण ने एकाग्र होकर देव का चिन्तन किया। तीन दिन की आराधना से देव संतुष्ट होकर उनके पास आया और बोला कि कहिये, मुझे क्यों याद किया गया है? आप क्या चाहते हैं? कृष्ण ने अपना अभिप्राय उसके सामने रखा। देव ने 'तथाऽस्तु' कहा और अन्तर्धान हो गया।

यथासमय देवकी ने आठवीं सन्तान को जन्म दिया। वह अत्यन्त सुकोमल और सुन्दर बालक था। उसका नाम 'गजसुकुमार' रखा गया। महारानी देवकी ने अपने अरमानों के अनुसार उसमें सुसंस्कार भरे। मातृत्व के कर्तव्यों का सम्यग् निर्वाह करते हुए उसने गजसुकुमार के जीवन को एक अनोखे ढांचे में ढाला। कर्तव्य दृष्टि को लेकर देवकी ने अपने जीवन में जो कमी महसूस की थी, उसकी पूर्ति वह गजसुकुमार के जीवन-निर्माण के माध्यम से कर रही है। उसकी चिर साधना, उसके अरमान, उसके मनोरथ परिपूर्ण हुए। उसने अपने को धन्य माना! वह कृतार्थ हुई।

माता देवकी के संस्कारों से गजसुकुमार के जीवन ने नई दिशा पाई। वह विरक्त हो गये और अनुपम आतम-साधना में लीन हुए।

आज तो बड़ी विचित्र स्थिति है। यदि कोई व्यक्ति धर्म-साधना के मार्ग में लगना चाहता है तो उसके मार्ग में रोड़े अटकाये जाते हैं, अवरोध खड़े किये जाते हैं, उसे साधना से हटाने के प्रयास किये जाते हैं। यदि वह व्यक्ति व्यसनों में लग जाय, उन्मार्ग पर चलने लगे, बुरे रास्ते पर चल पड़े तो कोई आकर हस्तक्षेप नहीं करेगा, कोई उसे आकर पूछेगा भी नहीं। परन्तु ज्योंही वह साधना के पथ

पर चलने को उत्सुक होता है, उसके अनेक सगे सम्बन्धी और स्नेही जन अपना अधिकार बताते हुए उसके मार्ग में अवरोध उपस्थित करते हैं। विरले ही व्यक्ति ऐसे होते हैं जो उस आत्मा को साधना के पथ पर चलने हेतु प्रोत्साहित और अनुप्राणित करते हैं।

बन्धुओ ! सम्यग्दृष्टि आत्मा अपने नौ अन्तरंग नेत्रों को सदा खुला रखता है। वह अपने कर्तव्यबोध को जागृत रखता है, सुविधि से चलता है और सुविधि को ही अपनाता है। इसलिए प्रार्थना की कड़ियों में कहा है:—

'श्री सुविधि जिनेश्वर वंदिए हो, वंदत पाप पुलाय।'

आप भी सुविधिनाथ परमात्मा को वन्दन करिये। उनकी बताई हुए सुविधि पर चलिए। आपका भी जीवन मंगलमय बनेगा।

देशनोक
४-९-७५

चेतन! अपने घर पर आओ!

श्री सुविधि जिनेश्वर वंदिये हो, वंदत पाप पुलाय ॥
काकन्दी नगरी भली हो, श्री सुग्रीव नृपाल ।
रामा तस पटरानी हो, तस सुत परम कृपाल ॥
प्रभुता त्यागी राजनी हो, लीधो संयम भार ।
निज आतम अनुभव थकी हो, पाम्या पद अविकार ॥
अष्ट कर्म नो राजवी हो, मोह प्रथम क्षय कीन ।
सुध समकित चारित्र नो हो परम क्षायक गुण लीन ॥
ज्ञानावरण दर्शनावरण हो, अन्तराय कियो अन्त ।
ज्ञानदर्शन बल ये तिहुं हो प्रकट्या अनन्तानन्त ॥
सुविधि जिनेश्वर वंदिये हो०

प्रभु सुविधिनाथ के चरणों में प्रार्थना की कड़ियों के माध्यम से वन्दन करने के लिए कवि प्रेरणा दे रहा है। प्रभु को वन्दन करने की प्रेरणा देते हुए कवि कहता है कि 'वंदत पाप पुलाय।' प्रभु को वन्दन करने से पाप के पुंज नष्ट हो जाते हैं, क्षीण हो जाते हैं। यह सही है कि प्रभु का वन्दन पापों को नष्ट करने वाला है लेकिन यह इतना सस्ता सौदा नहीं है। केवल हाथ जोड़ लिये या मस्तक

नमा लिया, इतने मात्र से प्रभु का वन्दन नहीं हो जाता। न इतना कर लेने मात्र से पाप के पुंज नष्ट होते हैं। जब सुविधिनाथ परमात्मा और उनकी बताई हुई सुविधि (सन्मार्ग) मन की गहराई में उतरती है, तब सहज रूप से परमात्मा के प्रति जो समर्पण भाव पैदा होता है, वही वास्तविक वन्दन है और ऐसा वन्दन ही पाप के पुंजों को नष्ट करने में समर्थ होता है।

आत्मा अपने मूल रूप में स्फटिक मणि के समान निर्मल है परन्तु बाह्य उपाधियों को लेकर वह विकारी भावों से मलिन हो रही है। उस पर अनादि काल से कर्मों की परतें चढ़ी हुई हैं। इनके कारण वह आत्मा संसार की विविध विडम्बनाओं का अनुभव करती हुई विभिन्न दशाओं को प्राप्त होती रहती है। विकारी भावों के कारण आत्मा की पवित्रता कलंकित हुई, उसका चैतन्य अवरुद्ध हुआ, मोह माया के बन्धनों में वह कैद हुई और मोह की प्रगाढ़ निद्रा ने उस पर अपना आधिपत्य जमाया।

मोह की मदिरा :

विकारी भावों से परिणत आत्मा की ज्ञान-ज्योति को मोह की काली घटाओं ने आवृत्त कर लिया, मोह की प्रगाढ़ निद्रा ने उसके सहज विवेक को विलुप्त कर दिया और मोह की मदिरा ने उसे उस स्थिति में ला पटका, जहां वह अपना घर छोड़कर दूसरे के घर को अपना मानने लगी, वह स्व तत्त्व को छोड़कर पर तत्त्व में रमण करने लगी! वह अपने चैतन्य स्वरूप को छोड़कर जड़ पुद्गलों की परिणति को अपना मानने लगी। यह शरीर मेरा है, यह भौतिक साधन-सामग्री मेरी

है, मकान मेरा है, आभूषण और वस्त्र मेरे हैं। मोह की इस मादक मदिरा ने आत्मा को केवल बेभान ही नहीं बनाया वरन् उसे इतना सम्मोहित कर लिया कि उसे जड़ पुद्गल ही अच्छे लगने लगे, वह उनमें ही रमण करने लगी, पुद्गल ही पुद्गल उसकी दृष्टि में चढ़ने लगे, वह अपने स्वरूप को तो सर्वथा भूल ही गई ! कितनी मादक है, यह मोह की मदिरा ! बड़ी दुर्दशा की है इसने आत्मा की ! अपना घर छोड़कर जो दूसरे के घर में जाता है, उसकी कैसी दुर्दशा होती है, यह आप सब समझते ही हैं !

आत्मा की इस दुर्दशा से मुक्ति तभी हो सकती है जब मोह की मदिरा का मादक प्रभाव दूर हो। जब आत्मा पर-भाव को छोड़कर स्व-भाव को समझने लगेगी, जब उसका पुद्गल के प्रति सम्मोहन हटेगा, जब उसकी दृष्टि सही को समझने लगेगी, जब उसे अपने मूलस्वरूप का ध्यान आएगा, जब वह पुनः अपने घर लौटेगी, तब वह दुर्दशा से छूट सकेगी। यदि आत्मा को इस दुर्दशा से छुटकारा पाना है तो उसे अपने घर आना पड़ेगा, पुद्गलों के सम्मोहन को भगाना पड़ेगा, मोह की प्रगाढ़ निद्रा को छोड़ना होगा और अपने मौलिक स्वरूप को पहचानना होगा, पौद्गलिक सम्मोहन के विरुद्ध सतत जागृति रखनी होगी। पूर्वाचार्यों ने इस जागृति का संदेश देते हुए कहा है :—

> जागरह ! णरा णिच्चं
> जागरमाणस्स वड्ढते बुद्धी
>
> — बृहत् कल्पभाष्य

मनुष्यो ! जागो ! निद्रा को छोड़ो । जो जागता है, उसकी बुद्धि भी जागती है । उसके विकास की अनन्त सम्भावनाएं सामने खड़ी रहती हैं ।

प्रभु सुविधिनाथ ने मोह की प्रगाढ़ निद्रा को भंग करने और आत्मा को जागृत करने के लिए सुविधि बताई है । न केवल उन्होंने सुविधि ही बताई परन्तु उस विधि पर स्वयं चलकर जगत् के जीवों के सम्मुख आदर्श उपस्थित किया । वे आत्मानुभव से निर्विकार स्वरूप को प्राप्त हुए ।

प्रभु सुविधिनाथ ने आत्मा के यथातथ्य स्वरूप को समझा और पौद्गलिक पदार्थों की चुम्बकीय आकर्षण शक्ति को आत्मानुभूति से निष्फल कर दिया । वे राज्य का परित्याग कर स्व-स्वरूप की साधना में लगे । सत्ता और सम्पत्ति में अजीब मादक शक्ति हुआ करती है । यही मधु के बिन्दु हैं, जिनमें संसारी प्राणी ललचा रहे हैं । सत्ता और सम्पत्ति का नशा मानव को मदहोश बना देता है, वह अपने आप पर नियन्त्रण खो देता है, उसकी विवेक-दृष्टि विलुप्त हो जाती है, उसके अन्तर्-नेत्र बन्द हो जाते हैं, आध्यात्मिक दृष्टि से वह अंधा बन जाता है । सत्ता और सम्पत्ति से आसक्ति हटे बिना मानव को सही रास्ता नहीं दिखाई देता । इस तथ्य को सुविधिनाथ परमात्मा ने समझा और दुनियां के लोगों को यह तथ्य समझाने के लिए उन्होंने राज्य का परित्याग कर दिया ।

न केवल सुविधिनाथ प्रभु ने अपितु सभी तीर्थंकरों ने इस पद्धति को अपनाया है । उन तीर्थंकरों के द्वारा उपदिष्ट मार्ग पर चलने की इच्छा वाले तथा उनके

अनुशासन में रहने वाले अनेकों महापुरुष इस मार्ग पर अग्रसर हुए हैं। आचारांग में कहा गया है :—

पणया वीरा महावीहिं।

वीर पुरुष इस मार्ग पर—इस महापथ पर चले हैं, चलते हैं और चलते रहेंगे। जो इस महापथ पर बढ़ते हैं, वे सुविधिनाथ परमात्मा की तरह निर्विकार पद को प्राप्त करते हैं। इसीलिए कहा है :—

प्रभुता त्यागी राज नी हो, लीधो संजम भार।
निज आतम अनुभव थकी हो, पाम्या पद अविकार।
श्री सुविधि जिनेश्वर वंदिये हो, वन्दत पाप पुलाय।

कवि जिनको वन्दन करने की प्रेरणा दे रहा है, वे सुविधिनाथ, राजसिंहासन पर आसीन सुविधिनाथ नहीं हैं अपितु जिन्होंने राजसिंहासन को छिटकाया और जिन्होंने अपने आत्मानुभव के आधार पर निर्विकार स्वरूप प्राप्त किया, उन सिद्ध स्वरूप भगवान् को वन्दन करने के लिए प्रेरणा दे रहा है। वन्दन करने वाले भक्तजन परमात्मा के इस स्वरूप को अपने सामने रखते हैं और अपनी आत्मा के स्वरूप को भी वैसा ही जानते हैं, वे कर्मों के आवरणों से मुक्त हो सकते हैं।

अष्ट कर्मों का राजा : मोह :

अनन्त ज्ञानी सर्वज्ञ सर्वदर्शी परमात्मा ने आत्मा के प्रबल विरोधी और प्रमुख प्रतिद्वन्द्वी आठ कर्मों का निरूपण किया है। आत्मा की अनन्त शक्ति को प्रतिहत करने वाले

ये कर्म बड़े प्रबल हैं। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय,वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय—ये आठ कर्म आत्मा को अपने घेरे में कैद किये हुए हैं। स्वतन्त्र और सार्वभौम चेतनराज, पराये घर जाकर—पर परिणति में पड़कर– कर्मों के चंगुल में फंस गया है। उसकी स्वतन्त्रता, सार्वभौमता, अनन्त शक्ति-सम्पन्नता छीन ली गई है। कर्म लुटेरों ने उसके वैभव को लूट लिया है। वह अभी दीन-हीन-अवस्था में कर्मों की कैद में पराधीन दशा भोग रहा है। इन कर्म–लुटेरों का सरदार 'मोह' बड़ा दुर्दान्त है। वह आठ कर्मों का राजा है। संसार में इस मोहराज का बड़ा वर्चस्व है। चारों तरफ इसका प्रभाव फैला हुआ है। गजब की मोहनी शक्ति है इस मोह में! इसके बन्धनों को तोड़ना आसान नहीं, बहुत टेढ़ी खीर है। दृढ़ फौलाद और लोहे की जंजीरों को तोड़ना आसान है परन्तु मोह के कच्चे धागे को तोड़ना बहुत कठिन है! कैसी मोहनी शक्ति है मोह की! अपने पराक्रम से धरातल को कंपा देने वाले बड़े-बड़े शूर-वीर इस धरातल पर आये हैं, दुनिया में उन्होंने तहलका मचाया है परन्तु वे भी मोह की मोहनी शक्ति के सामने श्वान की तरह दुम हिलाते रहे हैं।

मोह की प्रबल शक्ति का रहस्य उसका विकराल स्वरूप नहीं, अपितु उसकी सम्मोहनी शक्ति है, मोह के विविध मायावी स्वरूप हैं। इन मायावी लुभावने विविध रूपों से वह जगत् के जीवों की—चेतन की—मति को भ्रान्त करता है। मति के भ्रान्त होते ही सब मिथ्या प्रतीति होने लगती है, वस्तु का स्वरूप भ्रान्त दिखाई देने लगता है– चेतन मिथ्यादृष्टि बन जाता है। उसकी निर्णायिका शक्ति लुप्त हो

जाती है । वह सम्यक्-असम्यक् का निर्णय नहीं कर पाता, कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का विवेक नहीं हो पाता । अतएव उसके सारे प्रयत्न विपरीत दिशा में होते रहते हैं । अपने मूल स्वरूप के प्रति वह असावधान रहता है और पर-पदार्थों को प्राप्त करने के लिए सतत प्रयत्नशील रहता है । यह मिथ्या दृष्टि ही उसे अनन्तकाल तक संसार चक्र में परि-भ्रमण कराती है । यह सब मोह की ही माया है । अतएव उसे सब कर्मों का राजा और संसार का मूल कहा जाता है ।

सुविधिनाथ भगवान् ने इस मोह को सर्वप्रथम क्षय किया । इसी बात का कवि ने प्रार्थना में संकेत देते हुए कहा :—

अष्टकर्म नो राजवी हो मोह प्रथम क्षय कीन ।
सुध समकित चारित्र नो हो परम क्षायक गुण लीन ।।

प्रभु सुविधिनाथ ने अष्टकर्मों के राजा मोहनीय कर्म का पहले क्षय किया और इसके फलस्वरूप उन्हें क्षायिक सम्यक्त्व, और क्षायिक चारित्र की प्राप्ति हुई ।

जिस प्रकार राजा के परास्त हो जाने पर सेना बिखर जाती है, उसी तरह मोहनीय कर्म के नष्ट हो जाने पर अन्य कर्म भी शिथिल बन जाते हैं । ज्ञानावरणीय, दर्शना-वरणीय और अन्तराय कर्म रूप शेष बचे हुए घाती कर्म अन्तर्मुहूर्त मात्र समय में नष्ट हो जाते हैं और आत्मा में अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन और अनन्तशक्ति प्रकट हो जाती है। यही बात कवि ने इन पंक्तियों में कही है :-

ज्ञानावरण, दर्शनावरण हो, अन्तराय कियो अन्त ।
ज्ञान दर्शन वल में तिहुं हो, प्रगट्या अनन्तानन्त ।
श्री सुविधि जिनेश्वर वंदिये हो०

यह अनन्त चतुष्टय की प्राप्ति ही आत्मा का अपने घर में लौट आना है । अपनी स्वाभाविक स्थिति को पा लेना है । यही सव संसारी आत्माओं का लक्ष्य और साध्य है ।

भ्रान्त धारणा :

कई व्यक्तियों की यह अभिलाषा रहती है कि माल भी खाना और मोक्ष में भी जाना । वे दोनों हाथ लड्डू रखना चाहते हैं परन्तु ऐसा सम्भव नहीं है । कई अधूरे-अधकचरे विचारकों ने यह सस्ता नुस्खा भोले जीवों को भ्रमित करने के लिए पकड़ा दिया है । ऊपर ऊपर से यह नुस्खा वड़ा मोहक और लुभावना लगता है । हर कोई ऐसा सीधा-सरल तरीका अपनाना चाहता है । परन्तु वन्धुओं ! याद रखना चाहिए कि एक म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकतीं । पदार्थों का मोह भी वना रहे और मोक्ष भी मिल जाय — ऐसा कभी न हुआ है और न होगा । यदि ऐसा सीधा रास्ता होता तो अतीत काल के तीर्थंकर और महापुरुष राज्य और वैभव-विलास के परित्याग का और वनों में रहकर कठोर तप और साधना करने का कठिन मार्ग न अपनाते ।

भोग-विलास और ऐश्वर्य के वातावरण में रहकर केवल भावना के वल पर मोक्ष की साधना की वात जितनी

सरल है, उसका आचरण उतना ही कठिन है । सत्ता और सम्पत्ति को, चाहे वह व्यक्तिगत हो या राष्ट्रीय हो, अपने अधीन रखने वाला व्यक्ति अपनी भावना को सात्विक रख सके, यह अत्यन्त ही कठिन और दुःशक्य है । यदि भावना की शुद्धि से ही आत्मा को ऐसी परम उपलब्धि हो जाती होती तो सुविधिनाथ भगवान् या अन्य तीर्थंकर और दूसरे हजारों महापुरुष राज्य वैभव को न छोड़ते और तपश्चर्या के कठोर मार्ग का अवलम्बन न लेते और न ऐसा करने का उपदेश ही देते । अतः इस मिथ्याधारणा को दिमाग से हटा देना चाहिए । इस सस्ते नुस्खे के चक्कर में नहीं आना चाहिए । यदि इस नुस्खे का सहारा लिया जायगा तो यह आत्म वचना होगी ।

आत्मा की वर्तमान विडम्वनापूर्ण स्थिति पर-पदार्थों के संसर्ग के कारण ही तो है । इस संसर्ग को हटाये विना आत्मा का उद्धार कैसे हो सकता है ? पदार्थों की ममता – मूर्छा ही तो आत्मा को मलिन कर रही है । यदि हम आत्मा रूपी दर्पण को स्वच्छ करना चाहते हैं तो इस ममता के मैल को धोना ही पड़ेगा । अतएव वाह्य पदार्थों की ममता का परित्याग करके ही साधना के मार्ग में आगे वढ़ा जा सकता है । अनेक महापुरुषों ने यही मार्ग अपनाया है और इसी से आत्मा को कर्मों की कैद से मुक्त किया है । अन्तगड सूत्र के माध्यम से ऐसे ही महापुरुषों के चरित्र आप श्रवण कर रहे हैं ।

गजसुकुमार मुनि :

त्रिखण्डाधिपति वासुदेव महाराज के भव्य भवन में

जिनका जन्म हुआ, राजसी वैभव के बीच जिसका लालन-पालन हुआ, उस आत्मा ने अरिष्टनेमि भगवान् का एक ही उपदेश सुना और उससे ही उसके जीवन ने नया मोड़ ले लिया।

भगवान् अरिष्टनेमि ने ऐसा क्या उपदेश सुनाया होगा? गजसुकुमार को कोई अनोखा ही उपदेश दिया हो, ऐसी बात नहीं है। उपदेश तो वही होता है जो आमतौर पर दिया जाता है। तीर्थंकर उपदेश देने में कोई भेदभाव नहीं रखते। आचारांग में कहा गया है :—

जहा पुण्णस्स कत्थइ तहा तुच्छस्स कत्थइ।
जहा तुच्छस्स कत्थइ तहा पुण्णस्स कत्थइ।

— आचारांग

तीर्थंकर सब जीवों को समान रूप से उपदेश प्रदान करते हैं। पुण्यवन्त और श्रीमन्त को जिस भाव से उपदेश देते हैं, उसी भाव से सामान्य व्यक्ति को भी उपदेश देते हैं। सामान्य व्यक्ति को जिस भाव से हितोपदेश देते हैं, उसी भाव से अभिजात्य—श्रेष्ठ वर्ग को भी उपदेश देते हैं।

भगवान् नेमिनाथ की देशना सब जीवों के लिए समान रूप से हुई थी। गजसुकुमार के लिए कोई विशेष प्रकार का उपदेश नहीं दिया गया था। पात्र के अनुसार उपदेश का प्रभाव हुआ करता है। गजसुकुमार सुयोग्य पात्र था। उसकी आत्मा सुसंस्कारित और निर्मल थी। स्वच्छ हृदय पर उपदेश का प्रभाव विशेषतया अंकित होता है। जिसका हृदय स्वच्छ नहीं होता, जिसके मन में सरलता नहीं होती,

उस पर हजारों उपदेशों का भी कोई असर नहीं होता। गजसुकुमार की आत्मा विशिष्ट संस्कारों से सम्पन्न थी, उसका हृदय स्फटिक के समान निर्मल था। अतएव प्रभु की वाणी उसके अन्तर-तर में उतर गई। वह एक ही उपदेश से प्रतिबुद्ध हो गया। प्रभु का उपदेश सीधा-सादा था —

"बहु पुण्य केरा पुंज थी नर देह मानव नो मल्यो।
तो पण अरे भव चक्र नो एके नहि आंटो टल्यो॥"

"भाइयो! बहुत पुण्य के पुंज एकत्रित होते हैं तब मानव का शरीर प्राप्त होता है। यह अत्यन्त दुर्लभ उपलब्धि है। ऐसे सुन्दर सुअवसर को प्राप्त करके यदि भवचक्र को मिटाने का प्रयास नहीं किया और आत्मा की वही स्थिति बनी रही, भवचक्र का एक भी चक्कर कम न हुआ तो बहुत पुण्य से प्राप्त मानव-भव अकारथ ही चला जायगा। चिन्तामणि रत्न पाकर कौए को उड़ाने में यदि उसे फैंक दिया तो चिन्तामणि का पाना न पाना एकसा ही हो जाता है। मानव-भव चिन्तामणि रत्न के समान है। इसका सदुपयोग आत्मा के कल्याण के लिए कर लेना चाहिए।

प्रभु की इस आशय की देशना गजसुकुमार के कानों में ही नहीं, हृदय में उतर गई। उसे तीन खण्ड का आधिपत्य भी तुच्छ प्रतीत होने लगा। उन्होंने प्रभु के पास संयम अंगीकार करने का संकल्प कर लिया।

घर आकर गजसुकुमार ने माता-पिता और परिजनों के समक्ष अपना संकल्प प्रस्तुत किया और संयम अंगीकार

करने हेतु अनुमति चाही। गजसुकुमार की प्राप्ति जिन परिस्थितियों में हुई उनको दृष्टि में रखते हुए माता-पिता का विशेष अनुराग उनके प्रति होना स्वाभाविक था। देवकी महारानी, महाराज वसुदेव तथा त्रिखण्ड के अधिपति कृष्ण वासुदेव ने गजसुकुमार को अपनी-अपनी पद्धति से समझाने का प्रयास किया। उन्होंने उन्हें त्रिखंड का स्वामी बनाने की अभिलाषा व्यक्त की और उनको सिंहासन पर अभिषिक्त भी कर दिया।

गजसुकुमार का वैराग्य कच्चा नहीं था, जो सिंहासन पाकर उतर जाय। वैराग्य उनके अन्तःकरण में जागृत हुआ था। राज्य वैभव को उन्होंने तृण के समान तुच्छ समझा। अन्ततोगत्वा उन्होंने समग्र राज्य वैभव और विलास की साधन-सामग्री को नासिका के मैल की तरह छिटका दिया। उन्हें यह भी ज्ञात था कि उनके विवाह सम्बंध हेतु अनेक कन्याएं कन्याओं के अन्तःपुर में एकत्रित थीं। उन सबको छोड़कर और कुटुम्ब के मोह बन्धनों को तोड़ कर वे उमंगपूर्वक भगवान् अरिष्टनेमि के चरणों में पहुंच गये। वे संयम पथ के पथिक बन गये।

अन्तिम आराधना :

गजसुकुमार अपने साथ पूर्वभव की कुछ विशिष्ट योग्यताओं और उपलब्धियों को लेकर आये थे। वे चरम शरीरी आत्मा थे। उनकी आत्मा की गहराई में कोई अनोखे ही बीज रहे हुए थे, जिन्हें अनन्त ज्ञानी नेमिनाथ प्रभु ही जानते थे। उनकी आत्मा में रहे हुए उन अदृष्ट संस्कारों के कारण दीक्षा ग्रहण करने के प्रथम दिन ही

उन्हें अन्तःप्रेरणा हुई कि "मैं शीघ्र से शीघ्र, जिस प्रयोजन को लेकर दीक्षित हुआ हूँ, उसे पूर्ण कर लूं । मैं इसी जन्म में जन्म-मरण का रोग मिटा डालूं । सम्पूर्ण वासनाओं और शरीर तक के मोह का निवारण शीघ्र से शीघ्र कर डालूं ।" यह भावना लेकर वे प्रभु अरिष्टनेमि के पास पहुंचे और उनसे विनयपूर्वक निवेदन करने लगे कि "भंते ! मुझे ऐसा बताइये जिससे मैं शीघ्रातिशीघ्र अन्तिम उपलब्धि को प्राप्त कर सकूं । मैं परम पद को प्राप्त करने हेतु लालायित हूं । विलम्ब मुझे सह्य नहीं है । मैं शीघ्र ही साध्य को प्राप्त करना चाहता हूँ ।"

भाइयो ! कितनी तीव्र और उदात्त भावना है गजसुकुमार मुनि की ! बात करना सहज है, कथा कह देना सरल है लेकिन जीवन में मुक्ति के प्रति इतनी उत्कट अभिलाषा, इतनी तीव्र उमंग हो, यह बड़ा कठिन कार्य है । आत्मसाधना के प्रति इतनी उत्कृष्ट लगन होना एक अभूतपूर्व घटना है । गज के तालवे के समान सुकोमल और सुकुमार शरीर होते हुए भी उसके प्रति सर्वथा उदासीन होकर आत्म-साधना में उसे झौंक देने के लिए तत्पर हो जाना, क्या कम विस्मयजनक है ? सचमुच गजसुकुमार मुनि का चारित्र गजब की प्रेरणा देने वाला आदर्श है !

भाइयो ! यदि आपकी ही भलाई के लिए आपसे कहा जाय कि आप अपने इस दुर्व्यसन को छोड़ दीजिये तो आप झट कह देंगे, "महाराज ! एकदम तो नहीं, थोड़ा-थोड़ा करके छोड़ने का प्रयास करेंगे । यदि यों 'थोड़ा-थोड़ा' करने में ही रह गये और अगले जन्म का आयुष्य बंध गया

तो जीवन की स्थिति कुछ और ही हो जायेगी। इसलिए जो करना हो सो शीघ्रता से कर लो। प्रभु महावीर ने कहा :—

समयं गोयम ! मा पमायए

— उत्तराध्ययन सूत्र

"गौतम ! समय मात्र का भी प्रमाद न करो !" जीवन का कोई ठिकाना नहीं ! एक श्वास के बाद दूसरा श्वास आएगा भी या नहीं, यह नहीं कहा जा सकता। ऐसी स्थिति में आज का काम कल पर डालना मूर्खता है। 'कल कल' करते जीवन का प्रवाह बहता चला जाता है और न जाने किस क्षण यह रुक जाय ? क्या भरोसा है जीवन का ? अतएव धर्म-साधना में तनिक भी प्रमाद नहीं करना चाहिए।

अरिष्टनेमि भगवान् सर्वज्ञ थे। उन्होंने गजसुकुमार मुनि के भवितव्य को अपने ज्ञान द्वारा जान लिया था। उन्हें ज्ञात था कि यह असाधारण आत्मा असाधारण रीति से असाधारण पराक्रम द्वारा अपने लक्ष्य को अविलम्ब प्राप्त करेगा। इसलिए उन्होंने कहा — 'मुनिवर ! अति शीघ्र मुक्ति - लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए भिक्षु की बारहवीं प्रतिमा का आराधन करना पड़ता है।'

गजसुकुमार—'भंते ! मुझे इस प्रतिमा का स्वरूप समझाइये। मैं इसका आराधन करूंगा।'

प्रभु बोले—देवानुप्रिय ! इस प्रतिमा का श्मशान में

आराधन किया जाता है। वहां अकेले ध्यान–मग्न रहना होता है। साथ में दूसरा कोई नहीं रहता। एक रात्रि का उसका कालमान है। इस स्थिति में देव–दानव–मानव–पशु सम्बन्धी कोई भी उपसर्ग आवे तो उससे भयभीत न होते हुए उसे समभाव से सहन करना होता है। यदि इस प्रतिमा को यथारीति से साध लिया जाता है तो अवधिज्ञान, मनः पर्यायज्ञान अथवा केवल ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। यदि कोई साधक साधना से विचलित हो जाय तो वह पागल हो जाता है, दिमाग का नियंत्रण खो देता है और जीवन का रूपक बदल जाता है। ऐसी विकट है यह साधना!'

गजसुकुमार मुनि—'भंते! मुझे आज्ञा दीजिये। मैं महाकाल श्मशान में जाकर बारहवीं भिक्षु प्रतिमा का आराधन करूंगा।

प्रभु सर्वज्ञ सर्वदर्शी अरिष्टनेमि भावी–भाव के ज्ञाता थे। त्रिकाल की बात उनके ज्ञान में झलकती थी। उन्होंने आज्ञा प्रदान कर दी। शास्त्रीय दृष्टि से श्मशान में वही साधना कर सकता है जिसकी २९ वर्ष की अवस्था हो और २० वर्ष की दीक्षा पर्याय हो। गजसुकुमार मुनि में ये दोनों बातें नहीं थीं वे तो उसी दिन के दीक्षित थे। परन्तु केवल ज्ञानी प्रभु अपने ज्ञान में समस्त भावी घटना चक्र को देख रहे थे। विशेष योग्यता, विशेष परिस्थिति, विशेष द्रव्य, क्षेत्र काल भाव की परिणति को लक्ष्य में रखकर उन्होंने इस प्रतिमा को साधने की अनुमति दी।

गजसुकुमार मुनि प्रतिमा—आराधन हेतु उस रात्रि

में श्मशान में जाकर ध्यानस्थ खड़े हो गये । सूर्यास्त के समय सोमिल नामक ब्राह्मण उधर से होकर निकला । मुनि को देखकर उसके मन में वैर की भावना जागृत हुई । पूर्व-जन्म के कर्मों का सम्बन्ध अनेक जन्मों तक साथ में रहता है । पूर्व-वैर की तीव्र भावना ने सोमिल को पागल बना दिया । पागल भी अनेक प्रकार के होते हैं । आवेश में भी पागलपन होता है । क्रोध जब उबलता है तो इन्सान बेभान और पागल बन जाता है । पूर्व वैर ने सोमिल को पागल और अन्धा बना दिया । उसने सोचा—यह राजकुमार जिसके लिए मेरी कन्या की याचना की गई थी—साधु बन कर श्मशान में खड़ा हो गया । यह अकारण मेरी कन्या को मझधार में छोड़ आया है । अब मैं इसे मजा चखाता हूँ । यह सोचकर अपने पास में पड़ी हुई गीली मिट्टी से गजसुकुमार के मस्तक पर पाल बांधी और चिता में से खैर के दहकते अंगारे ठीकरी में भर कर उस दुष्ट ने उनके मस्तक पर उडेल दिये । कितनी भयंकर क्रूरता, कितनी नृशंसता और कितनी नीचतम दुष्टता ! इससे बढ़ कर दुष्टता और क्या हो सकती है ? पाप की कितनी पराकाष्ठा, प्रतिशोध की कितनी भयंकरता ! इन्सान का कैसा दानवी रूप !

बन्धुओ ! कितना रोमांचक प्रसंग है । सुनते ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं, दिल दहलने लगता है । कोई जादूगर का खेल नहीं है !! मस्तक पर अंगारे धधक रहे हैं, परन्तु मुनिराज का चित्त एकदम शान्त ! न क्रोध है, न द्वेष है, न आकुलता है, न व्याकुलता । वे अडोल ध्यान-मुद्रा में अवस्थित हैं ! धन्य है, गजसुकुमार की यह अद्भुत

सहनशीलता ! कितना अद्भुत है यह पौरुष ! कितनी उत्कट है यह निर्मोह-दशा !

निर्मोह की पराकाष्ठा :

मस्तक पर अंगारे धधक रहे हैं। उधर मुनि के शान्त हृदय में चिन्तन की अजस्र धारा बह रही है। वे सोच रहे हैं—'जो जल रहा है वह मैं नहीं हूँ।' जो 'मैं' हूँ वह जल नहीं सकता ! यह शरीर तो एक दिन जलने ही वाला है, आज नहीं कल, कल नहीं, तो कालान्तर में, उसकी अन्तिम परिणति इसी रूप में होनी है। यदि वह आज ही इस स्थिति में पहुंच रहा है तो दुःख किस वात का ? पुद्गल पुद्गल में मिल रहा है ! मेरा चेतन तो शाश्वत है, वह अजर-अमर है। वह जल नहीं सकता। वह तो इस आग में पड़कर स्वर्ण के समान निखर रहा है ! बड़ा उपकारी है सोमिल जो मेरी आत्मा को इस पुद्गल पिंड से सदा के लिए मुक्त करने में सहायक बना है ! यह सांसारिक सम्वन्ध से मेरा भावी श्वसुर होता और मुझे उस नाते पगड़ी वंधवाता। वह पगड़ी सांसारिक स्थिति को वढ़ाने वाली वनती ! परन्तु आज यह मुझे ऐसी पगड़ी पहना रहा है जिसे पहन कर मैं मुक्ति का वरण करने जा रहा हूँ। वड़ा उपकार है सोमिल का !'

कितनी उत्कट है निर्मोह दशा ! कितनी उज्ज्वल है चिन्तन की धारा ! कितना गहरा है आत्मा और शरीर के भेद-विज्ञान का यह साक्षात् अनुभव ! कितनी उदात्त है यह जीवन्मुक्त अवस्था ! शरीर जल रहा है, आत्मा निखर रही है ! समभाव की साधना चल रही है ! न

शरीर के प्रति मोह है न सोमिल के प्रति द्वेष ! साधना की यह सर्वोच्च स्थिति है । गजसुकुमार मुनि समभाव की पराकाष्ठा पर पहुंच गये और केवल ज्ञान-दर्शन प्राप्त कर मुक्त हो गये, सिद्ध हो गये । उन्होंने जीवन का जो लक्ष्य निर्धारित किया था उस ओर अद्वितीय पौरुष के साथ चले और असाधारण शीघ्रता से मंजिल पर पहुंच गये । वे अजर अमर हो गये और ज्योति में ज्योति की तरह परमात्म-स्वरूप में लीन हो गये ।

बन्धुओ ! कितना प्रेरक, कितना बोधदायक और कितना हृदयस्पर्शी चरित्र है गजसुकुमार मुनि का ! हम प्रति वर्ष उनके इस समुज्ज्वल चरित्र को सुनते-सुनाते चले आ रहे हैं लेकिन इससे शिक्षा ग्रहण करने का प्रयत्न नहीं करते ! महापुरुषों के चरित्र इसीलिए सुनाये जाते हैं कि उनसे हम भी बोध प्राप्त करें और उनके जीवन की रोशनी से अपने जीवन में भी प्रकाश करें ।

गजसुकुमार मुनि का जीवन सहनशीलता, दृढ़ता और समता का ज्वलंत आदर्श है । उस आदर्श तक हम और आप भले ही एकदम न पहुंच पाएं परन्तु उस लक्ष्य को, आदर्श को सामने रखकर जीवन में सहनशीलता, दृढ़ता और समता का अभ्यास किया जाना चाहिए । जीवन में यह प्रयत्न-साध्य है । असम्भव नहीं । इस काल में भी ऐसे उदाहरण सामने आते हैं, जिनमें आत्मिक दृढ़ता और शारीरिक कष्टों के बीच सहिष्णुता की अद्भुत क्षमता का परिचय मिलता है ।

सहिष्णुता की क्षमता :

सन् १९१५ की घटना है । काशी-नरेश के पेट का

ऑपरेशन किया जाना था। ऑपरेशन के पूर्व आमतौर पर रोगी को बेहोश किया जाता है। काशी नरेश ने कहा— डॉक्टर, मुझे बेहोश मत करिये। मैं होश-हवास में ऑपरेशन करवाना चाहता हूँ। डॉक्टर ने कहा—'बड़ा ऑपरेशन है, दो घंटे लगेंगे। इतने समय तक वेदना सहन नहीं की जा सकती। पेट चीरना है, मामूली काम नहीं है। इतनी वेदना इन्सान नहीं सह सकता। वह छटपटाने लगेगा, हिलेगा-डुलेगा ही नहीं, उछलने लगेगा; जीवन खतरे में पड़ेगा और डॉक्टर का पटिया गोल हो जाएगा। मैं यह खतरा लेने को कतई तैयार नहीं हूँ।'

काशी नरेश ने कहा, 'मैं दो घंटे चूं तक नहीं करूंगा। आप ऑपरेशन करके देखिये। मैं बेहोश होना नहीं चाहता।'

डॉक्टर को विश्वास नहीं हुआ। उसने नरेश की कसौटी के लिए प्रयोग करना चाहा। नरेश ने कहा—प्रयोग करके देख लो। प्रयोग शुरु हुआ। नरेश ने ध्यान लगा लिया। होश-हवास की स्थिति में उनके हाथ पर चाकू का प्रयोग किया गया। खून बहा। नरेश बिल्कुल शान्त थे! दो घंटों तक उन्होंने चूं तक नहीं की। डॉक्टर हैरान था! दो घंटे के बाद डॉक्टर ने पूछा, "वेदना हो रही है?"

उत्तर मिला, "इतनी देर तक तो नहीं किन्तु अब वेदना का अनुभव हो रहा है। पहले मेरी दृष्टि अन्यत्र थी, मेरी वृत्ति अन्यत्र लगी हुई थी, मेरा ध्यान अन्यत्र केन्द्रित था!

डॉक्टर आश्चर्यचकित था! आखिर काशी नरेश की

इच्छानुसार विना वेहोश किये उनके पेट का ऑपरेशन किया गया। वे असाधारण रूप से शान्त रहे। दो घंटे तक विल्कुल चुपचाप, विना हिले-डुले शान्तभाव में स्थिर रहे। यह अपने ढंग का पहला उदाहरण है। यह एक ऐतिहासिक प्रसंग है। कालान्तर में उन्होंने राज्य त्याग कर आध्यात्मिक साधना में अपना जीवन लगाया।

स्व० श्री जवाहराचार्य जी की सहिष्णुता :

स्वर्गीय आचार्य श्री जवाहरलाल जी म० के जीवन की घटना का मुझे स्मरण आ रहा है। आचार्य श्री जब जलगांव में विराजमान थे, तब उनके हाथ में विषैला फोड़ा हो गया था। डॉक्टर मुलगावकर ने ऑपरेशन को अनिवार्य बताया। ऑपरेशन निश्चित हुआ। डॉक्टर ने उन्हें वेहोश करना चाहा। पूज्यश्री ने दृढ़ता से कहा, "वेहोश करने की आवश्यकता नहीं है। आप मेरी होश-हवास की स्थिति में भी ऑपरेशन कर सकते हैं।" डॉक्टर हैरान था! उसने पुनः आग्रह और निवेदन किया परन्तु आचार्य श्री अपनी बात पर दृढ़ रहे। उन्होंने अपना हाथ लम्बा कर दिया। ऑपरेशन किया गया और वे उसे इस रीति से देखते रहे मानो कोई अन्य व्यक्ति देख रहा हो! चूं तक उनके मुख से न निकली! कितनी दृढ़ता और सहिष्णुता है यह! यह तो अभी-अभी कुछ वर्षों पूर्व की घटना है। आप में से कइयों को उस महान् विभूति के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ होगा।

उनके जीवन का एक और ऐसा ही प्रसंग मेरी स्मृति

में उभर रहा है। बीकानेर में आचार्य श्री के अदीठ फोड़ा हो गया था ! वे स्वयं उठ नहीं पाते थे। संत सहारा देकर उठाते थे। एक बार संत उन्हें उठा रहे थे कि असावधानी से अंगुली फोड़े पर लग गई और खून निकल आया। संत घबरा गये। उस समय आचार्य श्री ने कहा, 'कोई बात नहीं। क्यों घबरा रहे हो ? जान-बूझ कर तुमने ऐसा नहीं किया है। तुम्हारी कोई गलती नहीं है। सब ठीक हो जाएगा।' उन्होंने यह भी नहीं कहा कि 'कितने असावधान हो ! जरा भी ध्यान नहीं रखते ! अविवेक से काम करते हो।' तनिक भी उपालंभ उन्होंने नहीं दिया ! उन महापुरुष की ऐसी अद्‌भुत सहिष्णुता थी। आज तो जरा-सा कांटा चुभ जाता है तो हाय ! हाय ! करते हैं। स्वर्गीय आचार्य श्री के चरित्र से भी दृढ़ता और सहिष्णुता की सीख लेनी चाहिए।

स्वामी रामतीर्थ का एक प्रसंग :

स्वामी रामतीर्थ जब अमेरिका गये थे, तब वहां के लोग उनके जीवन को देखकर आश्चर्य करते थे। वे अपने लिए उत्तम पुरुष का प्रयोग नहीं करते थे। उनसे पूछा जाता कि 'आपको भूख लगी है तो उनका उत्तार होता— राम को भूख लगी है। आपको भूख लगती है या नहीं, यह पूछे जाने पर वे कहते — 'राम को भूख लगती है।' लोग उनसे पूछते कि 'राम का तात्पर्य क्या है ? आप ऐसा क्यों कहते हैं ? यह राम कौन है ? वे कहते, 'इस शरीर का नाम राम है। शरीर को भूख लगती है, मेरी आत्मा को नहीं लगती ! मैं अपने शरीर से परे हूं। शरीर

का ट्रष्टी होकर इसकी देख-रेख करता हूँ। इस प्रकार स्वामी रामतीर्थ शरीर और आत्मा के भेद को व्यवहार में उतार कर बताते थे।

स्थितप्रज्ञता :

ये घटनाएं तो अभी की कतिपय वर्ष पूर्व की हैं। मानव यदि प्रयत्न करें तो अपने जीवन में ऐसे भेद-विज्ञान को लेकर चल सकते हैं। यदि मानव आत्मा और शरीर के इस भेद को समझता रहे तो जीवन में दृढ़ता आ सकती है और मोह का आवरण हल्का हो सकता है। मानव ऐसी साधना के बल से मृत्युंजय बन सकता है। मृत्युंजय बनने का तात्पर्य यह है कि वह मृत्यु के भय से ऊपर उठ जाता है। मृत्यु उसे डरा नहीं सकती, कर्त्तव्य-मार्ग से उसे विचलित नहीं कर सकती। शरीर का मोह उसे भ्रमित नहीं कर सकता। ऐसी स्थिति आने पर आत्मा 'स्थित-प्रज्ञ' हो जाता है। क्रमशः साधना के पथ पर आगे बढ़ता हुआ वह अनन्त चतुष्टय का स्वामी बन जाता है। वह अपनी अनन्त शक्ति-सम्पन्नता को प्राप्त कर लेता है।

कृष्ण का प्रश्न और भगवान का समाधान :

गजसुकुमार मुनि ने उत्कृष्ट साधना के द्वारा एक ही दिन में अनादिकाल से चली आ रही भव-परम्परा की परिसमाप्ति कर दी और सोमिल ने उत्कृष्ट वैर भाव के कारण जन्म-मरण की परम्परा में असंख्य भावों की वृद्धि कर ली। सुदीर्घ काल तक वह संसार चक्र में भटकता रहेगा। उसका भव-भ्रमण का चक्र लम्बे समय तक चक्कर

में उभर रहा है । बीकानेर में आचार्य श्री के अदीठ फोड़ा हो गया था ! वे स्वयं उठ नहीं पाते थे । संत सहारा देकर उठाते थे । एक बार संत उन्हें उठा रहे थे कि असावधानी से अंगुली फोड़े पर लग गई और खून निकल आया । संत घबरा गये । उस समय आचार्य श्री ने कहा, 'कोई बात नहीं । क्यों घबरा रहे हो ? जान-बूझ कर तुमने ऐसा नहीं किया है । तुम्हारी कोई गलती नहीं है । सब ठीक हो जाएगा ।' उन्होंने यह भी नहीं कहा कि 'कितने असावधान हो ! जरा भी ध्यान नहीं रखते ! अविवेक से काम करते हो ।' तनिक भी उपालंभ उन्होंने नहीं दिया ! उन महापुरुष की ऐसी अद्भुत सहिष्णुता थी । आज तो जरा-सा कांटा चुभ जाता है तो हाय ! हाय ! करते हैं । स्वर्गीय आचार्य श्री के चरित्र से भी दृढ़ता और सहिष्णुता की सीख लेनी चाहिए ।

स्वामी रामतीर्थ का एक प्रसंग :

स्वामी रामतीर्थ जब अमेरिका गये थे, तब वहां के लोग उनके जीवन को देखकर आश्चर्य करते थे । वे अपने लिए उत्तम पुरुष का प्रयोग नहीं करते थे । उनसे पूछा जाता कि 'आपको भूख लगी है तो उनका उत्तर होता— राम को भूख लगी है । आपको भूख लगती है या नहीं, यह पूछे जाने पर वे कहते — 'राम को भूख लगती है ।' लोग उनसे पूछते कि 'राम का तात्पर्य क्या है ? आप ऐसा क्यों कहते हैं ? यह राम कौन है ? वे कहते, 'इस शरीर का नाम राम है । शरीर को भूख लगती है, मेरी आत्मा को नहीं लगती ! मैं अपने शरीर से परे हूं । शरीर

का ट्रष्टी होकर इसकी देख-रेख करता हूँ। इस प्रकार स्वामी रामतीर्थ शरीर और आत्मा के भेद को व्यवहार में उतार कर बताते थे।

स्थितप्रज्ञता :

ये घटनाएं तो अभी की कतिपय वर्ष पूर्व की हैं। मानव यदि प्रयत्न करें तो अपने जीवन में ऐसे भेद-विज्ञान को लेकर चल सकते हैं। यदि मानव आत्मा और शरीर के इस भेद को समझता रहे तो जीवन में दृढ़ता आ सकती है और मोह का आवरण हल्का हो सकता है। मानव ऐसी साधना के बल से मृत्युंजय बन सकता है। मृत्युंजय बनने का तात्पर्य यह है कि वह मृत्यु के भय से ऊपर उठ जाता है। मृत्यु उसे डरा नहीं सकती, कर्त्तव्य-मार्ग से उसे विचलित नहीं कर सकती। शरीर का मोह उसे भ्रमित नहीं कर सकता। ऐसी स्थिति आने पर आत्मा 'स्थित-प्रज्ञ' हो जाता है। क्रमशः साधना के पथ पर आगे बढ़ता हुआ वह अनन्त चतुष्टय का स्वामी बन जाता है। वह अपनी अनन्त शक्ति-सम्पन्नता को प्राप्त कर लेता है।

कृष्ण का प्रश्न और भगवान का समाधान :

गजसुकुमार मुनि ने उत्कृष्ट साधना के द्वारा एक ही दिन में अनादिकाल से चली आ रही भव-परम्परा की परिसमाप्ति कर दी और सोमिल ने उत्कृष्ट वैर भाव के कारण जन्म-मरण की परम्परा में असंख्य भावों की वृद्धि कर ली। सुदीर्घ काल तक वह संसार चक्र में भटकता रहेगा। उसका भव-भ्रमण का चक्र लम्बे समय तक चक्कर

लगाता रहेगा । गजसुकुमार मुनि नें अनन्त सुख को प्राप्त कर लिया; सोमिल भव-भवान्तर में रुलता रहेगा । एक ने अनन्त प्रकाश पा लिया, दूसरा घने अन्धकार में भटक गया।

इधर त्रिखण्डाधिपति कृष्ण वासुदेव प्रातःकाल होने पर अपने लघुभ्राता के संयमी जीवन को देखने की आकांक्षा से प्रभु अरिष्टनेमि के दर्शन और वन्दन हेतु आये । वन्दना करने के पश्चात् कृष्ण ने प्रश्न किया— भंते ! गजसुकुमार मुनि दृष्टिगोचर नहीं हो रहे हैं, वे कहां है ?

भगवान् नें समाधान करते हुए फरमाया — 'उन्होंने अपना प्रयोजन सिद्ध कर लिया । जिस प्रयोजन को लेकर वे दीक्षित हुए, वह उन्होंने अत्यल्प काल में ही परिपूर्ण कर लिया । उन्हें एक व्यक्ति का सहयोग मिल गया, जिससे उनका आवागमन का चक्र सदा के लिए वन्द हो गया । वे सिद्ध-बुद्ध हो गये, सव बन्धनों से मुक्त हो गये ! उन्होंने अपना लक्ष्य साध लिया । वे कृतार्थ और सिद्धार्थ हो गये ।'

'हे कृष्ण ! मेरे दर्शन हेतु आते समय जैसे तुमने उस वृद्ध, जर्जर और क्षीणकाय व्यक्ति को ईंट उठाकर सहयोग दिया और उसके हजारों चक्करों को मिटा दिया, इस प्रकार तुम उसके सहायक बने हो । ठीक इसी प्रकार वह व्यक्ति गजसुकुमार मुनि के आवागमन को मिटाने में सहयोगी वना है । उसके प्रति तुम अन्यथा भाव न लाना !'

यह समाधान सुनकर कृष्ण के हृदय में एक विचित्र सी भावानुभूति हुई । हर्ष और शोक की मिली-जुली अनुभूति से वे विभोर और गद्‌गद् हो गये ।

बदल सकता है ।

कृष्ण के इस प्रसंग से यह प्रेरणा भी मिलती है कि हुकूमत करने की अपेक्षा स्वयं काम करने का उदाहरण पेश किया जाय तो वह ज्यादा प्रभावोत्पादक होता है। कृष्ण महाराज चाहते तो सेवकों को, नौकरों को, सेना को आदेश देकर काम करवा सकते थे, परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया और स्वयं ने ईंट उठा कर रख दी । इसका कितना अच्छा परिणाम निकला । दूसरे सब लोगों ने स्वयमेव उनका अनुकरण कर लिया । बड़े व्यक्ति जो काम करने लगते हैं, दूसरे भी उसका स्वयमेव अनुसरण करते हैं। अतएव यदि समाज में आप अच्छी रीतियां स्थापित करना चाहते हैं, बुराइयों को हटाना चाहते हैं तो उसका शुभ आरम्भ बड़े घरों से — प्रतिष्ठित समझे जाने वाले घरों से किया जाय तो वह शीघ्र ही समाज में प्रचलित हो जाता है। इस दृष्टि से समाज के लब्ध-प्रतिष्ठ व्यक्तियों की बहुत बड़ी जिम्मेवारी होती है । कृष्ण के इस महान् आदर्श से अवश्य ही प्रेरणा लेनी चाहिए ।
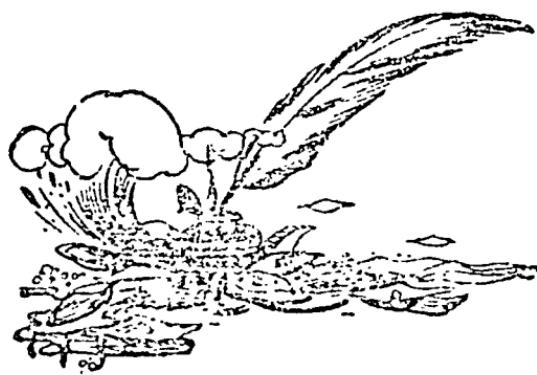
आध्यात्मिक जीवन का अनुसन्धान

श्री सुविधि जिनेश्वर वंदिये हो, वंदत पाप पुलाय ।
प्रभुता त्यागी राजनी हो, लीधो संयम भार ।
निज आतम-अनुभव थकी हो, पाम्या पद अविकार ।।श्री०।।
अष्टकर्म नो राजवी हो, मोह प्रथम क्षय कीन ।
सुध समकित चारित्र नी हो, परम क्षायक गुण लीन ।।श्री०।।
ज्ञानावरणी दर्शनावरणी हो, अन्तराय कियो अन्त ।
ज्ञान दर्शन बल तिहुं हो, प्रकट्या अनन्तानन्त ।।श्री०।।

श्री सुविधिनाथ भगवान् की प्रार्थना की कड़ियों का आपके समक्ष उच्चारण किया है । प्रभु की प्रार्थना हृदय को आनन्द-विभोर बनाती है । भक्त का रोम-रोम प्रभु की प्रार्थना से पुलकित हो उठता है, उसका अन्तःकरण प्रमुदित, हर्षित और उल्लसित हो उठता है । प्रार्थना के माध्यम से भक्त के हृदय-तंत्री के तार झंकृत हो उठते हैं । इतना ही नहीं, प्रार्थना के समय भक्त के हृदय के तार परमात्मा के साथ जुड़ जाते हैं जिससे उसका हृदय प्रकाशमान हो जाता

है । पावर हाउस (बिजलीघर) से तारों के माध्यम से संबंधित होते ही जैसे लट्टू (बल्व) रोशनी से जगमगाने लगता है वैसे ही प्रार्थना के द्वारा परमात्मा का सम्पर्क होते ही भक्त का हृदय भी प्रकाशमान हो उठता है, पाप की कालिमा नष्ट हो जाती है और वासनाओं की गंदगी मिट कर हृदय साफ-सुथरा वन जाता है । प्रार्थना वह पथ्य है जो हृदय के रोगों को मिटा कर उसे आरोग्य और आनन्द प्रदान करता है ।

विश्व के वातावरण पर विचार करते हुए प्रतीत होता है कि पापमय वासनाओं से आत्मा का स्वास्थ्य उत्तरोत्तर गिरता चला जा रहा है, मानव-समाज विकारों की गन्दगी से बुरी तरह ग्रस्त होता चला जा रहा है । जहां गन्दगी का विस्तार है वहां स्वास्थ्य का ह्रास अवश्यम्भावी है । बाहर की गन्दगी अधिक से अधिक एक जीवन के लिए खतरनाक होती है लेकिन आभ्यन्तर गन्दगी एक नहीं, अनेक जन्म-जन्मान्तर के लिए खतरनाक होती है । इस आभ्यन्तर विकृति की भयंकर परिणति सैंकड़ों हजारों जन्मों तक अशुभ फल-परम्परा के रूप में होती है । अतएव यह गन्दगी अत्यन्त भयंकर है । इस गन्दगी को दूर हटाने के लिए मनुष्य को पहले यह देखना होगा कि यह गंदगी कहां से आ रही है ? गन्दगी के उद्गम का सूक्ष्मता से विश्लेषण किये विना उसको मिटाया नहीं जा सकता । वाह्य गन्दगी तो स्पष्ट मालूम होती है । कपड़े मैले हैं, शरीर पर मैल जमा है, घर में कूड़ा-कचरा इकट्ठा हो रहा है, मक्खियां भिनभिना रही हैं, डांस-मच्छरों की वहुलता है । इन सवसे वाहरी गन्दगी को जान लिया जाता है और उसके निवारण

के उपाय भी आसानी से किये जा सकते हैं परन्तु आभ्यन्तर गन्दगी के विषय में ऐसी बात नहीं है। उस आभ्यन्तर गन्दगी को पकड़ पाना आसान नहीं है। बाह्य गन्दगी के सूक्ष्म कीटाणुओं को तो सूक्ष्मदर्शक यंत्र द्वारा देखा जा सकता है परन्तु आन्तरिक विकृति के सूक्ष्म अंश आत्मा की भीतरी तहों में इस प्रकार छिपे रहते हैं कि उन्हें पकड़ने की शक्ति किसी सूक्ष्मदर्शक यंत्र में भी नहीं है। उन्हें पकड़ने के लिए तो उनके अनुरूप यंत्र की आवश्यकता रहती है। वह यंत्र हो सकता है :—

आध्यात्मिक जीवन का अनुसन्धान

जब व्यक्ति बाहर से हट कर अन्दर की तरफ झांकने लगता है, इधर उधर बाहर भटकना छोड़ कर जब वह अपने अन्दर देखना आरम्भ करता है तब उसे अन्दर की गन्दगी के कीटाणुओं की हरकत मालूम पड़ती है और वह आत्म-अनुसन्धान से उनके उद्‌गम को जानकर उसके निवारण हेतु प्रयत्नशील होता है।

मूल को पकड़ो :

यह आत्मा वासनाओं से संत्रस्त है। आज से नहीं, कल-परसों से नहीं, वर्ष-दो वर्ष से नहीं, हजारों-लाखों वर्षों से नहीं अपितु संख्यातीत अनादिकाल से आत्मा वासना की भूल-भुलैया में फंस कर चौरासी लाख जीवयोनियों में भटक रहा है। उसकी इस दुर्दशा का, विडम्बना का, बीमारी का मूल क्या है ? उस मूल को पकड़ना आवश्यक है। ध्यान के सूक्ष्म-अतिसूक्ष्म यंत्र के द्वारा उस मूल को पकड़ा जा

सकता है। सुविधिनाथ भगवान् ने ध्यान के माध्यम से आत्मा की दुर्दशा के मूल को पकड़ा और उसे अपनी आत्मा से अलग हटाकर सच्चिदानन्दमय स्वरूप को प्राप्त किया।

श्री सुविधिनाथ परमात्मा ने ध्यान के सूक्ष्म यंत्र से आत्मानुसन्धान किया और पाया कि यह आत्मा वासनाओं के गूढ़ और रूढ़ संस्कारों से संत्रस्त है। यह इसकी दुर्दशा का मूल है। इस मूल को उन्होंने पकड़ा। टहनियों और पत्तों को नोंचने की अपेक्षा मूल को उखाड़ना ही कारगर और सार्थक होता है। ऊपर की निष्पत्ति हटा दी जाने पर भी यदि मूल शेष रह जाता है तो वह पुनः पनप उठता है। सुना जाता है कि बाजरे की टहनी कोमल अवस्था में काट दी जाती है तो पुनः फूट जाती है। मेवाड़ और मारवाड में रिजका (रचका) नाम का पौधा होता है जिसे काटने पर वह पुनः पनपता रहता है। उसकी समाप्ति तभी होती है जब उसे जड़ से उखाड़ दिया जाता है। अतएव वासनाओं को जड़ मूल से उखाड़ने का प्रयास करना चाहिए।

अफसोस इस बात का है कि मानव अपनी आत्मा को शुद्ध करने के लिए ऊपर-ऊपर से उपचार करता है लेकिन जड़ को नहीं पकड़ता है। जड़ को पकड़ कर उसे उखाड़ने का प्रयत्न नहीं करता है। मूलतः सोचने का विषय यह है कि आत्मा की दुर्दशा का मूल क्या है? उस मूल को ही पकड़ने का प्रयत्न किया जाय; पत्तों और टहनियों को नोंचने का निरर्थक श्रम क्यों किया जाय?

आत्मानुसन्धान के द्वारा श्री सुविधिनाथ भगवान् और अन्य तीर्थंकर भगवन्तों ने फरमाया है कि आत्मा की दुर्दशा

का मूल कारण है—मोह ! मोह वह मादक मदिरा है जो आत्मा को बेभान बना देती है । केवल इतना ही नहीं, मोह की मदिरा में दोहरी शक्ति होती है । मदिरा तो व्यक्ति की चेतना को केवल आच्छादित करती है जबकि मोह आत्मा की चेतना को आच्छादित करने के साथ ही साथ उसे विपरीत दिशा में — मिथ्यात्व में — पटक देता है । जिसके फलस्वरूप आत्मा सत्य को असत्य, असत्य को सत्य, हित को अहित और अहित को हित समझने लगता है । अपना स्वरूप भूल कर वह पर-रूप में रमण करने लगता है, पर-रूप उसे लुभावना लगता है; अपना अनन्त वैभव उसे तुच्छ लगने लगता है और पौद्गलिक पदार्थों के क्षणिक सुखाभास में सुख की अनुभूति करने लगता है । यह आत्मा की भयंकर दुर्दशा और विडम्बना है । इसका एकमात्र कारण मोह ही है । अतएव कवि ने प्रार्थना की कड़ियों में कहा है कि :—

अष्टकर्म नो राजवी हो, मोह प्रथम क्षय कीन ।
सुध समकित चारित्र नी हो, परम क्षायक गुण लीन ।।
ज्ञानावरणी दर्शनावरणी हो, अन्तराय कियो अन्त ।
ज्ञान दर्शन बल ये तिहुं हो, प्रकट्या अनन्तानन्त ।।

मोहकर्म आठों कर्मों का राजा है । सुविधिनाथ प्रभु ने सर्वप्रथम उसको क्षय किया और फलस्वरूप शुद्ध क्षायक सम्यक्त्व और क्षायक चारित्र की उपलब्धि हुई । इसके पश्चात् ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय कर्म का क्षय किया जिसके परिणामस्वरूप अनन्तानन्त ज्ञान-दर्शन और बल की प्राप्ति हुई ।

आत्मा की शक्तियां अनन्त हैं। उसके अनन्त गुण हैं। परन्तु मुख्यतया आत्मा में आठ गुण कहे गये हैं। वे इस प्रकार हैं :—(१) अनन्तज्ञान (२) अनन्तदर्शन (३) अव्यावाधसुख (४) क्षायिक सम्यक्त्व (५) स्वतन्त्रता-निर्बन्धता (६) अमूर्तत्व (७) अगुरुलघुत्व और (८) अनन्त बलवीर्य। ये आठ गुण आत्मा के सहज और स्वाभाविक गुण हैं। यह आत्मा की मौलिक स्थिति है। जिस प्रकार प्रकाश सूर्य की सहज स्थिति है परन्तु वह मेघों के आवरण से आवृत हो जाता है उसी प्रकार आत्मा में ये आठों गुण सहज हैं परन्तु अनादि-कालीन कर्मों के आवरण से ये आठ गुण आच्छादित हो जाते हैं। इन गुणों को आच्छादित करने वाले आठ कर्म हैं :— १. ज्ञानावरणीय, २. दर्शनावरणीय, ३. वेदनीय ४. मोहनीय ५. आयु, ६. नाम ७. गोत्र और ८. अन्तराय। ये आठों कर्म क्रमशः आत्मा के आठों मूल गुणों को आच्छा-दित करते हैं।

इन आठ कर्मों में मोह कर्म सबसे अधिक शक्तिशाली है। अतएव वह आठ कर्मों का राजा कहलाता है। मोह कर्म की जब तक प्रबलता रहती है तब तक अन्य सब कर्म भी शक्तिशाली बने रहते हैं। मोह कर्म के शिथिल होते ही अन्य कर्म भी शिथिल पड़ जाते हैं। जिस प्रकार राजा के पराजित होकर भाग जाने पर सेना भी स्वयं भाग खड़ी होती है इसी प्रकार मोह के पराजित होते ही अन्य कर्म स्वयं पराजित हो जाते हैं। अतएव मोह को उखाड़े बिना आत्मा का उद्धार होने वाला नहीं है। मोह को हटाने का प्रयास ही आत्मा के उद्धार का द्वार है। इसीलिए सुविधि-नाथ प्रभु ने आठ कर्मों के राजा मोह को सर्वप्रथम क्षय

किया और फलस्वरूप क्षायक सम्यक्त्व और आत्म-रमणता प्राप्त की। आपका और हमारा लक्ष्य भी मोह को हटाकर आत्मा के उद्धार का द्वार खोलना है। परन्तु यह काम आसान नहीं है। मोह की प्रवल शक्ति को तोड़ना साधारण काम नहीं है। इसके लिए दृढ़ संकल्प और अदम्य पुरुषार्थ की अपेक्षा रहती है।

भ्रान्त मान्यता :

साधना के मार्ग पर चलते हुए जो बाधाएं-कठिनाइयां आती हैं उनसे अनेक साधक हार खा जाते हैं। वे अपनी कमजोरी के कारण साधना-पथ से विचलित होते हैं। परन्तु ऐसे कई साधक अपनी कमजोरी को स्वीकार करने के वजाय उस पर सुनहरा पर्दा डालने की कोशिश करते हैं। वे प्ररूपणा करने लगते हैं कि आत्मोद्धार के लिए कठिन साधना की कोई आवश्यकता नहीं है। अनासक्ति आ जाना ही पर्याप्त है। घर संसार और ऐश्वर्य के बीच रह कर भी आत्मसाधना हो सकती है। मोह-ममता को जीतना हमारा प्रयोजन है और यह प्रयोजन संसार की प्रवृत्तियों में रहते हुए भी सिद्ध किया जा सकता है। इसके लिए घर-द्वार छोड़ कर साधु बनने की कोई आवश्यकता नहीं है। यह प्ररूपणा यदि सदुद्देश्य से प्रेरित है तो किसी अंश से यथार्थ हो सकती है परन्तु यह मार्ग कहने में जितना आसान है उतना ही उस पर चलना कठिन है। यदि अनासक्ति की साधना और मोह-ममता को जीतना इतनी सरलता से सम्भव होता तो तीर्थङ्कर भगवन्त राज्य-वैभव का परित्याग करके संयम की साधना और कठोर तपश्चर्या का मार्ग क्यों अपनाते ?

तीर्थङ्कर गर्भ से ही अवधि ज्ञान से सम्पन्न होते हैं, दीक्षा धारण करने के वाद मनःपर्याय ज्ञान भी उन्हें प्राप्त हो जाता है। इतनी लब्धि और शक्ति से सम्पन्न होने पर भी वे कठिन तपोमय मार्ग पर चलते हैं। महीनों और वर्षों तक वे कठोर तप का ग्राचरण करते हैं तव कहीं जाकर मोहकर्म को पराजित करने में वे सफलता प्राप्त करते हैं। हम तो चाहते हैं कि हमें कठोर तप ग्रौर श्रम न करना पड़े और सहज ही मोह को जीत लें। यह कदापि सम्भव नहीं है। हम भले ही उक्त भ्रान्त धारणा के चक्कर में पड़ कर ग्रपने ग्रापको धोखा दे लें, ग्रात्म-वंचना कर लें परन्तु इस तरीके से मोह पर विजय पाना कदापि सम्भव नहीं है।

तीर्थङ्कर-तुल्य महती शक्ति के धारक महापुरुषों ने भी जव मोह पर विजय पाने हेतु कठोर साधना का मार्ग ग्रपनाया तो आपकी ग्रौर हमारी क्या विसात जो हम सहज ही — विना किसी कठोर साधना के मोह को परास्त कर सकें? उन महापुरुषों ने कितनी कठोर जीवन-चर्या ग्रपनाई? कितने महीनों तक निराहार रहे? कितने वर्षों तक परिषह-उपसर्गों को स्थिर-चित्त से सहन करते रहे? ध्यान की कितनी कठोर प्रक्रिया ग्रपनाई? हम और आप तो चार लोगस्स का ध्यान करने वैठते हैं तव भी मन इधर-उधर दौड़ने लगता है। जरा-सा मच्छर आकर वैठ जाता है तो उसे हटाने का प्रयास किया जाता है! ध्यान की धारा खण्डित हो जाती है! ऐसी स्थिति में विना विशेष प्रयत्न के सहज ही मोह को जीतने की वात करना ग्रात्मप्रवंचना मात्र है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि मोह को

जीतना असम्भव है । मोह को जीता जा सकता है परन्तु उसके लिए आवश्यक है दृढ़ संकल्प और प्रबल पुरुषार्थ !

पर्युषण पर्व के इन दिनों में आप अन्तगड़ सूत्र का श्रवण कर रहे हैं । इस सूत्र में उन महान् साधकों का और साधिकाओं का वर्णन हैं जिन्होंने दृढ़ संकल्प और प्रबल पुरुषार्थ के द्वारा मोहकर्म पर विजय प्राप्त की और सकल कर्मों का क्षय करके जन्म-जरा मरण रूप संसार-चक्र का अन्त किया । उन महान् आत्माओं का वर्णन इन मांगलिक दिवसों में इसीलिए सुनाया जाता है कि उनके जीवन से प्रेरणा लेकर हम भी अपने जीवन को उसी दिशा में मोड़ें ।

स्त्री-पुरुष का भेद अपेक्षित नहीं :

साधना के क्षेत्र में स्त्री-पुरुष का भेद अपेक्षित नहीं है । साधना का सम्बन्ध आत्मा के साथ है, शरीर के साथ नहीं । आत्मा तो न स्त्री है, न पुरुष । अतः पुरुषत्व का अभिमान वृथा है । संस्कृत के कवि ने कहा है :—

गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः ।

गुणों का महत्त्व होता है । लिङ्ग या वय का महत्त्व नहीं । जिस प्रकार वस्त्रों का शरीर की शक्ति के साथ सम्बन्ध नहीं है, यदि पहलवान स्त्री-वेश धारण करले इससे उसकी शक्ति में कोई अन्तर नहीं पड़ता; इसी प्रकार आत्मा के लिए स्त्री-पुरुष का शरीर वस्त्र-तुल्य है । स्त्री-शरीर हो या पुरुष-शरीर, इससे आत्मा की शक्ति में कोई अन्तर नहीं आता है । पुरुषों के समान ही अनेक महिलाओं ने

साधना के क्षेत्र में अद्वितीय पौरुष बतला कर सिद्धि प्राप्त की है। आजकल तो प्रायः देखा जाता है कि पुरुषों की अपेक्षा महिलाएं साधना के क्षेत्र में तपस्या के क्षेत्र में, धर्म के मामलों में विशेष प्रगतिशील हैं।

अन्तगड सूत्र का वाचन-श्रवण चल रहा है। इसमें अनेक पुरुष-साधकों द्वारा आत्म-कल्याण करने का उल्लेख किया गया है, वैसे ही अनेक महिला-साधकों का भी विस्तार से उल्लेख है। त्रिखण्डाधिपति कृष्ण की पटरानियों ने भी संयम का मार्ग अपनाया था।

कृष्ण का कर्त्तव्य-पालन :

अन्तगड सूत्र के माध्यम से द्वारिका नगरी की भव्यता और त्रिखंडाधिपति महाराज कृष्ण के वैभव का वर्णन आप सुन चुके हैं। मैं आपका ध्यान कृष्ण के वैभव से हटा कर कृष्ण के द्वारा किये गये कर्त्तव्य-पालन की ओर आकृष्ट करना चाहता हूँ। उन्होंने अन्याय के प्रतिकार के लिए, राजा के नाते प्रजा के हित के लिए एवं अपने परिवार और जनता को त्यागमार्ग पर चलने की प्रेरणा देने के लिए जो कदम उठाये, वे सब अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और दूरदर्शिता से भरे हुए थे। आप जानते हैं कि शिशुपाल ने रुक्मिणी को वरने हेतु कितना षडयन्त्र रचा, रुक्मकंवर भी रुक्मिणी का विवाह शिशुपाल के साथ करना चाहता था। लेकिन रुक्मिणी का दृढ़ संकल्प था कि वह कृष्ण के चरणों में ही अपने को समर्पित करेगी, अन्य किसी का वरण कभी नहीं करेगी। शिशुपाल और रुक्म के पास सैन्य-बल था, ताकत के बल पर वे अपना मनोरथ सिद्ध करने के लिए कृत संकल्प थे।

रुक्मिणी असहाय थी। परन्तु उसके पास दृढ़ संकल्प बल था। उसके आधार पर उसने कृष्ण के पास सन्देश पहुंचाया और अपने मनोरथ को व्यक्त किया। एक स्त्री पर होने वाले इस अन्याय के प्रतिकार के लिए कृष्ण ने जो कुछ किया और जिस रीति से उन्होंने रुक्मिणी के मनोरथ को पूर्ण किया, वह सर्वविदित है।

रुक्मिणी अद्वितीय लावण्यवती सुन्दरी थी। वह महारानी सत्यभामा से भी अधिक सुन्दरी थी। यदि ऐसा न होता तो नारद जैसे ऋषि सत्यभामा के अभिमान को चूर करने के लिए रुक्मिणी को आधार न बनाते। ऐसी लावण्यवती रुक्मिणी, जो उन्हें बहुत कठिनाइयों का सामना करने के पश्चात् प्राप्त हुई थी, जब संसार से उद्विग्न होकर संयम के मार्ग पर चलने को उद्यत हुई तब उसे सहर्ष अनुमति प्रदान करके कृष्ण महाराज ने यह सिद्ध कर दिया कि भोगों की आसक्ति के कारण उन्होंने रुक्मिणी का वरण नहीं किया था अपितु कर्त्तव्य पालन की दृष्टि से — नारी पर होने वाले अन्याय के प्रतिकार के लिए — रुक्मिणी का वरण किया था !

द्वारिका के विनाश का कारण और कृष्ण की उद्घोषणा :

जगत् के पदार्थ कितने परिवर्तनशील हैं ! जिस द्वारिका के भव्य स्वरूप का आपने अभी वर्णन सुना है व जिसका निर्माण देवों ने किया था, वह भी अपने स्वरूप में सदा के लिए स्थिर रहने वाली नहीं है। कृष्ण महाराज को यह तथ्य मालूम था अतएव उन्होंने सर्वज्ञ सर्वदर्शी प्रभु अरिष्टनेमि से प्रश्न किया कि भगवन् ! इस मनोहर भव्य द्वारिका का विनाश

किस निमित्त को लेकर होगा ? प्रभु अरिष्टनेमि ने अनेक भव्य आत्माओं के कल्याण का निमित्त जानकर इस प्रश्न के उत्तर में फरमाया कि— यादवी राजकुमार मदिरा के नशे में उन्मत्त होकर द्वैपायन ऋषि को परेशान करेंगे, जिससे क्रुद्ध होकर वह द्वारिका के विनाश का निदान (नियाण) करेगा। उस निदान के कारण वह देव बनकर द्वारिका का विनाश करेगा।

द्वारिका के विनाश का कारण जानकर कृष्ण को मोह या क्षोभ उत्पन्न नहीं हुआ। पदार्थों की परिणमनशीलता और क्षणभंगुरता को वे समझते थे। वे क्षायिक सम्यक्त्वी थे। सम्यक्त्व तभी प्राप्त होता है जब मोह की जड़ टूटती है। मोह के उपशम, क्षयोपशम और क्षय से ही सम्यक्त्व का आविर्भाव होता है। कृष्ण वासुदेव क्षायक समकित के स्वामी थे। वे जगत् के पदार्थों की नश्वरता को हृदयंगम कर चुके थे। अतएव उन्हें द्वारिका के विनाश के वृत्तान्त को जानकर खेद नहीं हुआ। उन्होंने उसे आत्मकल्याण के अवसर के रूप में लिया। उस प्रसंग पर गहराई से विचार करते हुए उन्होंने जनता के नायक के रूप में अपने कर्त्तव्य का निर्धारण किया। उनकी विचारधारा जनता के कल्याण की ओर मुड़ी। वे सोचने लगे—"मैंने जगत् के स्वरूप को समझा है परन्तु सर्वसाधारण जनता इस तथ्य को गहराई से नहीं समझती है, अतएव जनता को सचेत और सावधान करना मेरा कर्त्तव्य है। मैं द्वारिका का आधिपत्य लेकर चल रहा हूँ अतएव जनता को जागृत करना और इस वृत्तान्त की सूचना देना मेरा कर्त्तव्य है।

किसी भी देश का शासक जब अपने देश पर आने

वाले खतरे को जान लेता है तो वह अपनी जनता को समय से पूर्व ही सावधान कर देता है । हिन्दुस्तान-पाकिस्तान का संघर्ष जब छिड़ा तब सरकार की ओर से ऐसा यांत्रिक प्रबन्ध किया गया था जिससे शत्रु के विमानों की गतिविधियां ज्ञात हो जाती थीं और जनता को समय से पूर्व उसकी सूचना दे दी जाती थी ताकि जनता सावधानी बरत सके और संभावित खतरे से बचने का प्रयास कर सके । जब सामान्य शासक भी इस कर्त्तव्य का निर्वाह करता है तो त्रिखण्डाधिपति और क्षायक सम्यक्त्व के स्वामी कृष्ण वासुदेव अपने कर्त्तव्य के पालन में पीछे कैसे रह सकते हैं ? उन्होंने अपनी जनता को द्वारिका पर आने वाली आपत्ति और मंडराने वाले संकट की सूचना देने हेतु तथा इस संकट के दौरान अपने कर्त्तव्य का बोध देने हेतु इस प्रकार की उद्घोषणा करवाई :—

'प्रिय द्वारिकावासियो ! आपके अपार स्नेह और विश्वास के आधार पर मैं द्वारिका के शासन-तंत्र का संचालन कर रहा हूँ । मेरे भरोसे आप सब निश्चिन्त हैं । मुझे आप अपने हितचिन्तक के रूप में मानकर चल रहे हैं और समझ रहे हैं कि मेरे रहते हुए आप सुरक्षित हैं । परन्तु मैं द्वारिका पर आने वाले संकट की पूर्व-सूचना आपको दे रहा हूँ । भगवान् अरिष्टनेमि ने मेरे प्रश्न के उत्तर में फरमाया है कि जिस द्वारिका के सौन्दर्य और वैभव पर हम सबको गौरव है वह सदा स्थिर रहने वाली नहीं है और उसका विनाश निकट भविष्य में ही होने वाला है । अतएव जनता के नायक के नाते—शासक के नाते—मेरा यह कर्त्तव्य है कि मैं जनता को आसन्न संकट की सूचना दूं और संकटकाल में

बिचलित न होते हुए अपने कर्त्तव्य के पालन में विशेष सावधानी रखने हेतु प्रेरणा प्रदान करूं।"

"प्रिय नागरिको ! आपने द्वारिका में रहकर भौतिक समृद्धि और बाह्य ऐश्वर्य तो पर्याप्त अर्जित किये हैं परन्तु यह शाश्वत नहीं है। यह सब विनश्वर है और नष्ट होने वाला है। यह भव्य और दिव्य द्वारिका नगरी भी अग्नि की लपटों में भस्मीभूत हो जाने वाली है अतएव समय रहते हुए आशाश्वत से मोह हटाकर शाश्वत तत्त्व की आराधना में जुट जाना हितावह है। भौतिक सम्पदा नष्ट हो जाने वाली है अतएव आत्मिक सम्पदा को जुटाने के लिए प्रयत्न-शील होना चाहिए।

'धर्म की पूंजी कमा ले जीवा ! जीवन बन जायगा
जीवन पट पर रंग है कब से, संयम रंग चढ़ा ले,
चढ़ा ले जीवा, जीवन वन जायगा।'

"भव्य प्राणियो ! धर्म की पूंजी कमाओ और जीवन-पट पर संयम का रंग चढ़ाओ। ऐसा करने से ही जीवन सफल हो सकेगा। संकटकाल सामने खड़ा है। यदि भौतिक मद-मस्ती में या सांसारिक मोह दशा में जकड़े रहे और वैसी अवस्था में अगले जन्म की आयु का बन्ध पड़ गया तो फिर चौरासी के चक्कर में भटकना पड़ेगा, कहीं ठौर ठिकाना नहीं लगेगा। अतएव मैं तीन खण्ड के स्वामी और आपके हितैषी के नाते सब तरुणों और तरुणियों को, पुरुषों और महिलाओं को प्रौढ़ और वृद्धों को सूचित करता हूँ कि वे संकट को समझें और मोह के वन्धनों को शिथिल करके

ग्राध्यात्मिक साधना के लिए कटिबद्ध हो जाएं । प्रभु अरिष्टनेमि की पावन और तारक निश्रा में ग्राकर जीवन को सफल ग्रौर धन्य बनावें ।"

"प्रिय नागरिको ! सांसारिक उत्तरदायित्व के कारण यदि कोई व्यक्ति या व्यक्तियों का समुदाय संयम पथ पर चलने का इच्छुक होने पर भी रुकावट का अनुभव करता हो तो उसे मैं स्पष्ट ग्राश्वासन देना चाहता हूँ कि उनके योगक्षेम की व्यवस्था मैं करूंगा । यदि कोई तरुण संयम की साधना के लिए संसार के बन्धनों से निकलना चाहते हैं किन्तु उनके सामने यदि वृद्ध माता-पिता की सेवा की समस्या है तो मैं उनके माता-पिता की सेवा करने का उत्तरदायित्व लेता हूँ । कदाचित् कोई व्यक्ति या परिवार आर्थिक ग्रभाव की स्थिति में चल रहे हों और उनके सामने परिवार के भरण-पोषण का प्रश्न हो तो उसकी जबावदारी भी मैं अपने ऊपर लेता हूँ । उनके जीवन-निर्वाह हेतु जो भी सामग्री ग्रपेक्षित है उसकी पूर्ति मैं करूंगा । सबके योग-क्षेम की जबाबदारी मेरी है । इस विषय में जरा भी विचार न करते हुए वे संयम के मार्ग में ग्रग्रसर हो सकते हैं । मैं इसके लिए सबको ग्रनुमति प्रदान करता हूँ ।"

"यह ग्रनुमति केवल जनता के लिए ही नहीं है, ग्रपितु मेरे परिवार के लिए भी है । राजकीय परिवार का कोई भी व्यक्ति चाहे राजकुमार हो, राजकुमारियां हों,महारानियां या पटरानी हो जो संयम के मार्ग पर चलने के लिए उद्यत हो, उसे मैं अपनी अनुमति प्रदान करता हूँ । जीवन की

सफलता का यही एक मार्ग है । जनता के नायक और शासक के नाते मैं यह पूर्व-सूचना प्रसारित करता हूँ ।"

उक्त अभिप्राय की उद्घोषणा कृष्ण वासुदेव ने द्वारिका नगरी में करवाई । बन्धुओ ! इस घोषणा से कृष्ण वासुदेव का कितना महान् व्यक्तित्व और कृतित्व झलकता है ! इस उद्घोषणा के पद-पद से उनका सम्यक्दर्शन मुखरित हो रहा है । उन्होंने जड़ और चेतन का, शाश्वत और अशाश्वत का, अन्तर्दृष्टि और वहिर्दृष्टि का अन्तर समझा था । ऐश्वर्य और वैभव में रहते हुए भी वे उसमें रचे-पचे नहीं थे ! जिस महारानी रुक्मिणी के लिए उन्हें भीषण संघर्ष करना पड़ा, उसके प्रति मोह की स्थिति को समाप्त करना आसान काम नहीं है ।

साधारण तौर पर देखा जाता है कि चाहे घर में अभाव की स्थिति हो, दो समय भोजन भी पूरा न मिलता हो, घर में स्त्री कुरूपा और कर्कशा हो - रात दिन घर में महाभारत छिड़ा रहता हो तदपि संसार से विरक्ति नहीं होती ! घर से और घरवाली से ममता नही छूटती ! द्वारकाधीश कृष्ण को देखिये जो अपार ऐश्वर्य के स्वामी थे और जिनके अन्त.पुर में रुक्मिणी, सत्यभामा जैसी अनिन्द्य सुन्दरियां थीं, वे उनसे अपना ममत्व हटा कर उन्हें संयम की साधना हेतु अनुमति प्रदान करते हैं ! कैसा अद्भुत था वह युग !

क्या दीक्षा का सौदा हो सकता है ?

आज सरीखा युग होता तो शायद अपरिपक्व बुद्धि

के लोग सोचते कि त्रिखंडाधिपति कृष्ण वासुदेव लोगों को खरीद कर साधु-साध्वी बनाना चाहते थे ! क्या दीक्षा भी सौदे की वस्तु है, जो ली-बेची जा सकती है ? क्या संयम खरीदा जा सकता है ? यह बुद्धि का दिवालियापन है ! ज्ञान-दर्शन-चारित्र अनमोल हैं। इनका मोल नहीं हो सकता। हजारों द्वारिकाएं देकर भी त्यागी के त्याग का मोल नहीं चुकाया जा सकता ! आपने सुना ही है कि मगध का सम्राट् श्रेणिक, पूनिया श्रावक की एक सामायिक का मूल्य देने में असमर्थ रहा। उसकी ५२ डुंगरियों की सम्पत्ति तो उसकी दलाली में ही चली जाती। मगध का सम्राट् एक सामायिक की कीमत भी न दे पाया तो जो जीवन भर की सामायिक अंगीकार कर रहा है उसके त्याग का मोल करने में कौन समर्थ हो सकता है ? जो मोह के नशे में दीवाना बन रहा है, वह इस तथ्य को नहीं समझ सकता है ! कृष्ण वासुदेव क्षायिक सम्यक्त्वी थे, वे दर्शन-मोह पर विजय प्राप्त कर चुके थे। अतः संयम और साधना के महत्त्व को वे भलीभांति हृदयंगम किये हुए थे। यही कारण है कि वे अपनी उक्त उद्घोषणा के माध्यम से द्वारिकावासियों को संयम के पथ पर चलने की प्रेरणा प्रदान कर रहे हैं !

बन्धुओ ! कृष्ण ने अपनी घोषणा में ऐसी कोई बात नहीं कही थी, जिससे खरीद कर साधु-साध्वी बनाने की चर्चा खड़ी की जा सके। उन्होंने इतना ही कहा कि यदि कोई संयम अंगीकार करने की भावना तो रखता हो परन्तु अभा-भाव से या और किन्हीं कारणों से उसको बाधाओं का सामना करना पड़ रहा हो तो मैं उन बाधाओं का निवारण कर सकता हूं। वह व्यक्ति निश्चिन्त और निर्बाध होकर

संयम-पथ का पथिक बन सकता है। संयम-पथ में आने वाली बाधाओं का निवारण करना तो सम्यग्दृष्टि का कर्त्तव्य है। इसी कर्त्तव्य के नाते कृष्ण ने उक्त उद्घोषणा करवाई थी। यदि कोई व्यक्ति संयम अंगीकार करना नहीं भी चाहता और वह दुखी या अभावग्रस्त होता तो उसकी भी सहायता कृष्ण वासुदेव करते थे। कल के व्याख्यान में कृष्ण द्वारा ईंट उठा कर वृद्ध की सहायता करने का उल्लेख किया जा चुका है। क्या उस वृद्ध के परिवार में से कोई दीक्षा लेने वाला था? नहीं! केवल कर्त्तव्य के नाते उन्होंने उसे वृद्ध की सहायता की थी। कमजोर व्यक्ति की सहायता करना समर्थ व्यक्ति का कर्त्तव्य हो जाता है।

कृष्ण वासुदेव ने सोचा कि यह भौतिक वैभव रहने वाला नहीं है, द्वारिका भी नष्ट होने वाली है तो मेरा यह वैभव यदि धर्म की साधना का साधन बने तो इससे बढ़कर इसका और सदुपयोग क्या हो सकता है? मुझे धर्म की दलाली का लाभ लेना ही चाहिए। इस प्रकार के उदात्त अध्यवसायों से उन्होंने तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन किया। कितना महान् है कृष्ण का यह कृतित्व और व्यक्तित्व! साधारण व्यक्ति अपनी सामान्य बुद्धि से महापुरुषों के जीवन को सही रूप में नहीं समझ पाते। कृष्ण के असाधारण और बहुरंगी जीवन को समझने की क्षमता सर्व-साधारण में नहीं है। पर्याप्त क्षमता वाला व्यक्ति ही उनके जीवन की सफलताओं को आंक सकता है।

त्रिखण्डाधिपति कृष्ण वासुदेव की उक्त घोषणा सुनने के पश्चात् जिन भव्य आत्माओं की भवस्थिति पक चुकी

थी वे प्रभु अरिष्टनेमि के समीप संयम अंगीकार करने हेतु तत्पर बनीं। सम्बन्धित – पारिवारिक जनों की अनुमति लेकर वे प्रभु के चरण–शरण में आकर प्रव्रजित हो गये।

कृष्ण की महारानियों ने भी प्रव्रज्या अंगीकार करने हेतु अनुमति मांगी तो कृष्ण ने उन्हें सहर्ष अनुमति प्रदान की। यदि कृष्ण की मोहदशा प्रबल होती तो वे अपनी महारानियों को संयम अंगीकार करने की अनुमति नहीं देते।

भाइयो! कल्पना करिये उस भव्य दृश्य की, जब कृष्ण की पटरानी और अन्य महारानियां साध्वी-वेश को धारण करके प्रभु की सेवा में उपस्थित हुई होंगी! कितना मर्मस्पर्शी हुआ होगा वह दृश्य जब हजारों की संख्या में राजकुमार और राजकुमारियां, सेठ और सेठानियां, युवक और युवतियां, निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थी के रूप में प्रभु अरिष्टनेमि के पावन पद-पद्मों की शरण में पहुंचे होंगे! आध्यात्मिक उत्क्रान्ति का वह दृश्य कितना भव्य और रम्य रहा होगा!

मद्यपान का निषेध :

त्रिखण्डाधिपति कृष्ण ने इस प्रकार आध्यात्मिक जीवन की दलाली का लाभ तो लिया ही साथ ही नैतिकता की दृष्टि से भी द्वारिका की जनता को सावधानी रखने के संकेत दिये। उन्होंने कहा कि जिन लोगों में संयम पथ पर चलने की क्षमता न हो, वे कम से कम दुर्व्यसनों का त्याग तो अवश्य करें। खास करके कोई मदिरा का पान न करे। यह मदिरा आपत्ति का कारण बन सकती है। यादवीय राजकुमारों को

विशेष रूप से सावधान करते हुए उन्होंने कहा कि अब तक चाहे जिस स्वच्छंद वृत्ति के साथ रहे हों, परन्तु अव अपने आप पर नियंत्रण और अनुशासन रखना होगा। यदि द्वारिका की और अपने आपकी सुरक्षा चाहते हो तो मदिरा और अन्य व्यसनों का परित्याग करना आवश्यक है। जब तक यह नियंत्रण और अनुशासन रहेगा, तव तक ही द्वारिका की और हम सव की सुरक्षा है। अतएव इस विषय में पूरी जागरूकता और सतर्कता रखी जानी चाहिए।

कृष्ण वासुदेव ने सावधानी की दृष्टि से सम्पूर्ण राज्य में मद्य-निषेध की घोषणा करवाई और जितना भी मदिरा का संग्रह जहां कहीं भी था, उसे द्वारिका से वहुत दूर जंगल में पहाड़ी पर फिकवा दिया।

समय बड़ा विचित्र होता है। भवितव्यता होकर ही रहती है। सतत सावधानी रखने के बावजूद भी होनहार को कोई टाल नहीं सकता। द्वारिका के विषय में भी वही हुआ।

भावी भाव की प्रवलता के वश होकर कतिपय यादवी राजकुमार जंगल में गये। स्वेच्छानुसार क्रीड़ा करते हुए उन्हें प्यास लगी। समीप ही झरना वह रहा था। उसका पानी उन्होंने पीया। उस झरने के पानी में पहाड़ी पर डाली गई मदिरा का रस मिल चुका था। उस झरने के पानी को पीने से यादवी राजकुमारों पर मदिरा का असर होने लगा। वे मदिरा के नशे में चूर हो गये।

वहीं जंगल में द्वैपायन ऋषि साधना में लीन थे।

घातक प्रवृत्ति है ?

सरकारी आंकड़े यह बता रहे हैं कि मदिरा के द्वारा होने वाली राजकीय आय प्रति वर्ष कई गुणा अधिक बढ़ रही है। यह इस बात का द्योतक है कि मदिरा-पान की प्रवृत्ति देश में बढ़ रही है जो अत्यन्त घातक और हानिप्रद है।

भाइयो ! यादवी राजकुमारों ने मदिरा-पान किया तो द्वारिका नगरी जलकर राख हो गई इसी तरह मदिरा-पान की आदत कई घरों और परिवारों की सुख-शान्ति और समृद्धि में आग लगा देती है। इस आदत के कारण कई परिवार वर्बाद हो गये हैं ! उनकी सम्पत्ति मदिरा के ठेकेदारों की जेब में चली जाती है ! मदिरा के नशे में वे चेतना भी गंवा देते हैं और सम्पत्ति से भी हाथ धो बैठते हैं ! बाल-बच्चे स्त्री आदि भयंकर मुसीबत में फंस जाते हैं ! परिवार बर्बाद हो जाता है, नतीजा कुछ हासिल नहीं होता। अतएव मदिरा-पान की बुरी आदत से छुटकारा पाने से ही परिवार की सुख-शान्ति बनी रह सकती है ! मैं समझता हूँ कि इस सभा में तो कोई व्यक्ति इस आदत का शिकार नहीं होगा। परन्तु यदि कोई हो तो उसे आज और अभी ही मदिरापान के त्याग की प्रतिज्ञा (प्रत्याख्यान) कर लेनी चाहिए। 'जब जागा तभी प्रभात' के अनुसार अपनी आदत का परिमार्जन कर लेना चाहिए। यदि किसी में सबके सामने प्रतिज्ञा लेने का सामर्थ्य न हो तो एकान्त में आकर प्रतिज्ञा कर लेनी चाहिए। जीवन में सुख-शान्ति का संचार और परिवार में समृद्धि तभी तक सम्भव है जब तक मदिरा-पान की आदत न लगी हो ! यह आदत एकबार

पड़ जाती है तो वह घर और परिवार को बर्बाद किये बिना नहीं रहती । अतएव बुद्धिमानों और विवेक सम्पन्न व्यक्तियों का कर्त्तव्य है कि वे मद्यपान आदि दुर्व्यसनों से वच कर नैतिकतापूर्ण जीवन बितावें ।

मदिरा-निर्माण की घृणित प्रक्रिया :

मदिरा-पान की आदत वाले भाई भी यदि मदिरा के वनने की प्रक्रिया पर ध्यान दें तो सम्भव है कि उन्हें भी स्वयमेव मदिरा से घृणा हो जाय ! मदिरा बनाने वाले महुवों को सड़ाते हैं, उनमें लम्बे-लम्बे कीड़े पड़ जाते हैं ! उन कीड़ों वाले महुओं को बर्तन में डालकर आग पर चढ़ा कर उबालते हैं जिससे कीड़ों का रस भी उसमें मिल जाता है । चाहे आज के वैज्ञानिक युग में शराब तैयार करने की कोई नई प्रक्रिया हो परन्तु वह भी निर्माणाधीन दशा में घृणित और दुर्गन्धपूर्ण होती है । तैयार हो जाने के बाद आकर्षक बोतलों में विविध नामों के साथ भले ही वह प्रस्तुत की जाती हो परन्तु वह अत्यन्त घातक और हानिप्रद है । अतएव मदिरा-पान से प्रत्येक सद्-गृहस्थ को अवश्यमेव बचना चाहिए ।

जिस प्रकार यह मदिरा गृहस्थ के जीवन को झकझोर देती है, इसी प्रकार मोह की मदिरा आत्मा को झकझोर देती है जिससे आत्मा चतुर्गति में भटकता रहता है । अतएव मोह को हटाकर अपने जीवन रूपी कपड़े को धर्म के रंग में रंग लेना चाहिए । संयम के रंग में रंगने से जीवन की सार्थकता है । विचक्षण और प्राज्ञ द्वारिका के निवासियों ने प्रभु के चरणों में संयम अंगीकार कर अपने जीवन को कृतार्थ

बनाया । इसी तरह आप भी मोह की प्रबलता को हटाकर संयम की साधना की दिशा में आगे बढ़ें । यदि इतना सामर्थ्य न हो तो गृहस्थ अवस्था में भी मर्यादित और त्याग-प्रत्याख्यान मय जीवन बितावें । यदि यह भी सम्भव न हो तो कम से कम धर्म-दलाली का लाभ तो आप ले ही सकते हैं । जो व्यक्ति सहज रूप से त्याग मार्ग के पथिक बनने को तैयार हों, उन्हें आप प्रोत्साहित करें या न करें परन्तु उनके मार्ग में बाधा डालने की कोशिश तो न करें । जो मोह से बचने के लिए तैयार हो रहे हैं, उन्हें मोह में डालने का यत्न न करें अन्यथा आप स्वयं महा मोहनीय कर्म के बंधन से बंध जावेंगे ।

भाइयो ! आप अपने जीवन का अनुसन्धान करें । अपने जीवन के अन्दर झांक कर देखें । जीवन में व्याप्त मोह-मदिरा के प्रभाव से अपने को मुक्त करें । आलोचना द्वारा जीवन का शुद्धिकरण करें । यह पर्युषण पर्व का सुन्दर अवसर है । इस अवसर पर सुविधिनाथ भगवान् को विधिवत् वन्दन करें । उन्होंने मोहनीय कर्म और अन्य कर्मों का क्षय करके अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख और शक्ति प्राप्त की, इसी तरह आप और हम भी उनका अनुसरण कर जीवन को मंगलमय बना सकते हैं ।

देशनोक
४-९-७५

चरित्र का मूल्यांकन

श्री सुविधि जिनेश्वर वंदिये हो वंदत पाप पुलाय ।
अष्टकर्म नो राजवी हो, मोह प्रथम क्षय कीन ।
सुध समकित चारित्र नो हो, परम क्षायक गुण लीन ।।
श्री सुविधि जिनेश्वर वंदिये हो ।।

यह प्रभु सुविधिनाथ परमात्मा की प्रार्थना है । प्रार्थना जीवन का महत्त्वपूर्ण अंग और प्रसंग है, क्योंकि प्रार्थना के माध्यम से जीवन का वेग सही दिशा की ओर प्रवाहित होता है । जीवन विश्व का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है । इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती । बल्कि यह कहना चाहिए कि विश्व की समस्त प्रवृत्तियों का संचालन करने वाला तत्त्व, जीवन ही है । जीवन जितना महत्त्वपूर्ण है उतना ही वह रहस्यों से परिपूर्ण भी है । विश्व के विद्वानों, विचारकों और दार्शनिकों के सामने यह प्रश्न चिरन्तन काल से खड़ा है कि 'जीवन क्या है ?' क्या यह केवल भौतिक पिण्ड है जो जड़ भूतों से उत्पन्न होता है और जड़-भूतों में विलीन हो जाता है ? अथवा यह एक शाश्वत चेतन तत्त्व है, जो सदा से है और सदा बना रहने वाला है ?

सर्वज्ञ-सर्वदर्शी तीर्थङ्कर परमात्मा का कथन है कि

जीवन शाश्वत और सनातन तत्व है। अनन्त अती
में भी कोई ऐसा समय नहीं था जब जीवन का अ
न रहा हो और अनन्त भविष्य काल में भी ऐस
समय नहीं होगा जिसमें जीवन का अस्तित्व नहीं
वर्तमान में जीवन का प्रवाह गतिमान है ही। इस
जीवन त्रिकालवर्त्ती शाश्वत सनातन तत्त्व है। वह अ
प्रकट हो जाने वाला या अनायास हो विलीन हो जा
नहीं है। इस दृष्टि से हमारा यह दृश्यमान जीव
इसी जन्म का परिणाम नहीं है अपितु इसका अस्तित्व
अतीतकाल में था और अनन्त भविष्यकाल में भी
आचारांग सूत्र में तीर्थङ्कर प्रभु फरमाते हैं: —

सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं—इ
णो सण्णा हवइ 'पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ
दाहिणाओ दिसाओ वा आगओ अहमंसि, पच्चत्थिम
दिसाओ आगओ अहमंसि, उत्तरिल्लाओ वा दिसाओ
अहमंसि, अण्णयरीओ वा दिसाओ विदिसाओ वा
अहमंसि। केऽहं आसी को वा इह चुओ पेच्चे भविस

—आचारांग १ श्रुत० १ अ०

'हे आयुष्मन् जम्बू ! भगवान् ने इस प्रकार प
है कि इस संसार में कतिपय व्यक्तियों को यह ज्ञा
होता कि—'मैं पूर्व दिशा से आया हूँ, दक्षिण दिशा
हूँ, पश्चिम दिशा से आया हूँ, उत्तर दिशा से
अथवा किसी भी दिशा-विदिशा से आया हूँ। मैं कौ
और यहां से चल कर परलोक में क्या होऊंगा।'

तीर्थङ्कर परमात्मा के इस कथन से स्पष्ट प्रती

है कि हमारा वर्तमान जीवन पूर्ववर्त्ती जीवन का परिणाम है। जीवन की वर्तमान स्थिति पूर्व जीवन के आधार से बनी है और इस जीवन के आधार से हमारे अगले जीवन की स्थिति बनने वाली है। जीवन का प्रवाह कई जन्मों से चला आ रहा है और जन्म-जन्मान्तर तक चलता रहेगा जब तक कि सिद्धावस्था प्राप्त न हो जाय। वैसे तो सिद्धावस्था में भी विशुद्ध जीवन होता ही है।

सिद्धावस्था में पाया जाने वाला विशुद्ध निर्मल जीवन हम सब का लक्ष्य है। हमारे जीवन की समस्त प्रवृत्तियों का लक्ष्य उस विशुद्ध जीवन को प्राप्त करना ही होना चाहिए। प्रार्थना के माध्यम से उस विशुद्ध स्वरूप को प्राप्त करने की हमारी अभिलाषा को हम व्यक्त करते हैं। हम यह मान कर चलते हैं कि यह शरीर ही सब कुछ नहीं है। इससे परे एक विराट एवं वास्तविक जीवन है, जिसे हमें उपलब्ध करना है।

अनेक व्यक्ति इस लक्ष्य को ओझल किये हुए हैं। या यों कहना चाहिए कि वे लक्ष्य-भ्रष्ट हो गये हैं। वे जीवन को सही दृष्टिकोण से नहीं देख पा रहे हैं।[1] जीवन का स्वरूप उन्होंने कुछ और ही समझ रखा है। शारीरिक और भौतिक सुख-सुविधाओं को प्राप्त करना ही उन्होंने जीवन का लक्ष्य मान रखा है। निस्संदेह शरीर और उसको टिकाये रखने के लिए अन्न, जल आदि भौतिक पदार्थ भी अपना महत्त्व रखते हैं। मानव जीवन की ये बुनियादी

१-पिव खाद च जात शोभने ! यदतीतं वरगात्रि तन्न न ते।
नहि भिरु ! गतं निवर्तते समुदाय मात्रमिदम् कलेवरम्॥
-- षड्दर्शन कारिका ८२

आवश्यकताएं हैं। परन्तु इसी को जीवन का लक्ष्य मान लेना नितान्त भ्रमपूर्ण है।

आज मानव जीवन के सारभूत तत्त्वों को भुला कर इधर-उधर लक्ष्य-हीन वन कर भटक रहा है। भौतिक साधनों की उपलब्धि ही उसका एकमेव लक्ष्य वन गया है और इसके पीछे वह पागल की भांति भाग रहा है। इन्हें प्राप्त करने हेतु वह नीति, सदाचार और धर्म को भी दाव पर लगा देता है। जीवन के सारभूत तत्त्वों को खोकर भी वह अधिक से अधिक भौतिक साधन वटोरना चाहता है। **यह कितना बड़ा व्यामोह है! कितना भारी भ्रम है! जीवन की कैसी अद्‌भुत विडम्बना है कि मानव अपनी जीवन-नौका को हल्की रखने के वजाय धन-दौलत के असार-कंकर-पत्थरों को बटोर-बटोर कर भारी बना रहा है!!** दुःख है कि मानव ने जीवन के सही महत्त्व को नहीं समझा। **जीवन का महत्व धन-दौलत की प्राप्ति से नहीं, जीवन का महत्व सत्ता या अधिकारों को हस्तगत करने में नहीं, जीवन का महत्व शारीरिक बल या सौन्दर्य से नहीं, जीवन का महत्व होता है सदाचार से, सद्‌व्यवहार से।**

मानव ने अपने जीवन का सही मूल्यांकन नहीं किया है। 'सदाचार से मानव-जीवन की महत्ता है,' इस तथ्य को उसने भुला दिया है। यही कारण है कि व्यक्ति, परिवार, समाज, देश और विश्व में विकृतियां फैल रही हैं, अशान्ति उभर रही है और चारों ओर उच्छृंखलता का वातावरण वन रहा है। धार्मिक और नैतिक मर्यादाएं लुप्त हो रही हैं, कर्तव्य-भावना निकल चुकी है, सर्वत्र स्वार्थान्धता और लोलुपता का वोलवाला है।

जीवन के सारभूत तत्त्व सदाचार की ओर न व्यक्ति ध्यान दे रहा है और न परिवार ही इस विषय में सोच रहा है। समाज और राष्ट्र के कर्णधार भी इस विषय में चिन्तन नहीं कर रहे हैं। परिणाम स्वरूप व्यक्ति जर्जरित होता चला जा रहा है। पारिवारिक जीवन खोखला हो रहा है। सामाजिक जीवन विशृंखलित हो रहा है। राष्ट्रीय धरातल पर जाएं तो राष्ट्रीय चरित्र का नाम निशान भी दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है। विश्व की दृष्टि से अपेक्षित सदाचार का कहीं पता नहीं है। ऐसी परिस्थिति में प्रत्येक सुज्ञ और विवेक-सम्पन्न व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह इस विषय की ओर अपनी चिन्तन धारा को मोड़े। यह सन्देहातीत तथ्य है कि जब-जब मानव ने सदाचार की अवहेलना की, उस पर विपत्ति के बादल मंडराये हैं, विषमताएं पनपी हैं, जीवन का धागा टूटा है, समाज उच्छृंखल बना है और राष्ट्र पर संकट गहराया है। अतएव यदि जीवन का सही मूल्यांकन करना है, यदि नव निर्माण की शक्ति के साथ वर्तमान को स्वर्णिम आदर्शों पर टिकाना है और भविष्य को उज्ज्वलतर बनाना है तो जीवन में सदाचार को अपनाना ही होगा। सदाचार को अपनाये बिना जीवन के किसी भी क्षेत्र में प्रगति नहीं की जा सकती। व्यक्तिगत जीवन में, पारिवारिक परिवेश में, जाति या समाज-गत क्षेत्र में, राष्ट्रीय परिधि में और अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति में—सर्वत्र सदाचार और अनुशासन की आवश्यकता है।

आज की दृष्टि से सोचें या अतीत काल पर दृष्टिपात करें तो सदाचार और अनुशासन की महत्ता को और उसकी अनिवार्यता को स्वीकार करना ही होगा। वर्तमान संदर्भों

में तो इनकी बहुत ही अधिक आवश्यकता है । पर्युषण पर्व के अवसर पर दिव्य महापुरुषों के चरित्रों को, उनकी शुद्ध निष्ठा को और जीवन-निर्माण की कलाओं को श्रवण करने का प्रसंग आता है, तब जीवन में सच्चरित्रता की दिव्य भावना प्रकट होती है और अनुभव होता है कि वस्तुतः सदाचार-मय ही जीवन है । सदाचार-हीन मानव मशीन की तरह जीता है और मशीन की तरह समाप्त हो जाता है ।

अर्जुन माली :

राजगृही नगरी के शान्त वातावरण में जो उथलपुथल हुई, शांत परिवारों में भी आग लगी, वह चरित्रहीनता का ही दुष्परिणाम था । यह अर्जुन माली की घटना से स्पष्ट हो जाता है । अर्जुन माली जाति से माली था किन्तु उसके जीवन में नैतिकता थी और सदाचार व्याप्त था । उसका व्यक्तिगत और पारिवारिक जीवन सुखी, शांत और नियमित था । आजीविका के निर्वाह हेतु वह नैतिकतापूर्ण श्रम का मार्ग अपना कर चल रहा था । अनैतिक आचरण द्वारा सुखोपभोग के साधन जुटाना, उसे पसन्द न था । उसकी भावना के अनुरूप ही उसकी धर्मपत्नी भी उसके कार्य में सदा सहयोग प्रदान करती थी । वह कर्तव्य-परायण और पति के नैतिक कार्यों में सहयोग देने वाली सुयोग्य गृहिणी थी । यही कारण है कि उसका पारिवारिक जीवन एकदम शांत और सुखी था ।

पारिवारिक जीवन की शांति हेतु परिवार के सदस्यों में अपने कर्तव्य और उत्तरदायित्वों का बोध होना आवश्यक

है। परन्तु प्रायः देखा जाता है कि आधुनिक परिवारों में घरेलू वातावरण अशांत और कलुषित रहता है। छोटी-छोटी बातों को लेकर परिवार के सदस्य घर में महाभारत खड़ा कर देते हैं। परिणाम स्वरूप घर की शांति नष्ट हो जाती है, घर के टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं, पारिवारिक स्नेह की भावना टूक-टूक हो जाती है और घर का आंगन कलह एवं क्लेश का अड्डा बन जाता है। जो परिवार सुख-शांति का आगार और आधार होता है, वही कारागार के समान दुखदायी वन जाता है। इसका एक मात्र कारण है—परिवार के सदस्यों में कर्तव्य भावना का अभाव। यदि परिवार के सदस्य अपने दायित्व को समझ कर पारिवारिक आचार संहिता और अनुशासन का पालन करते हैं तो निस्संदेह वह परिवार सुखी, समृद्ध और शांत होता है। वहां विषमता का वातावरण व्याप्त नहीं होता। उसको आर्थिक अवस्था डांवाडोल नहीं होती। पारिवारिक जीवन वहां टूटते नजर आते हैं, जहां परिवार के सदस्य अपनी जिम्मेदारियों को भुला कर एक ही व्यक्ति पर निर्भर हो जाते हैं। परिवार में एक ही व्यक्ति कमावे और शेष व्यक्ति हाथ पर हाथ धरे बैठे रहें—उपभोग मात्र करें तो उस परिवार की दशा विकृत और विषम हो जाती है।

मध्यमवर्गीय जनता इसलिए परेशान है कि उनके यहां कमाने वाला एक है और खाने वाले दस हैं। श्रमिक वर्ग में यह स्थिति नहीं है। वहां परिवार के सब सदस्य कार्य करते हैं—कमाते हैं। आजीविका के साधन जुटाने में परिवार के सब सदस्य सहयोगी वनते हैं। अतएव आर्थिक दृष्टि से मजदूर वर्ग प्रगति कर रहा है। मध्यम वर्ग दिन

प्रतिदिन शिथिल पड़ता जा रहा है या यों कहना चाहिए कि वह खोखला होता जा रहा है । वह बड़ी दयनीय दशा से गुजर रहा है । उसकी ओर किसी का ध्यान भी आकृष्ट नहीं हो रहा है ।

अर्जुन माली का जीवन मध्यम वर्ग की भांति दयनीय नहीं था । उसके परिवार के सब सदस्य पारिवारिक समस्याओं को हल करने में लगे हुए थे । वह प्रामाणिकता के साथ बगीचे का संरक्षण करता था, फल-फूलों के द्वारा आजीविका की स्थिति को सुदृढ़ करता था और नैतिक धरातल पर जीवन को सुव्यवस्थित रख रहा था । वह प्रतिदिन की तरह पुष्प चयन करने हेतु बगीचे में पहुंचा । उसकी धर्मपत्नी भी पतिदेव को सहयोग करती हुई पुष्पों के चयन में लगी हुई थी । एक तरफ नैतिकता के साथ श्रममय जीवन का यह क्रम चल रहा था ।

उच्छृंखल टोली :

दूसरी तरफ उसी राजगृही नगरी में कुछ उच्छृंखल युवकों की टोली ऊधम मचाने में लगी हुई थी । उस टोली के युवक सदस्य ऐश-आराम और भौतिक सुख-सुविधाओं को ही जीवन का सर्वस्व माने हुए थे । इसी आधार पर वे जीवन को नापते और तोलते थे । इसके लिए उन्होंने अपने व्यक्तिगत जीवन को खण्डित कर लिया था, नैतिकता के सारे बन्धनों को तोड़ डाला था, धार्मिकता तो उनके लिए अभिशाप रूप थी, सामाजिक चारित्र को वे समझते ही नहीं थे और राष्ट्रीय चारित्र का तो नामोनिशान भी नहीं था । वे स्वच्छन्द वृत्ति के युवक इस नास्तिक विचारधारा को

लेकर चल रहे थे कि—

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत् ।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ।।

जब तक जीना है आराम से जीओ । ऋण लेकर भी घृतपान करो । जब शरीर भस्मीभूत हो जाता है तो पुनः उसका आगमन कैसे और कहां से ? दुर्लभ शरीर प्राप्त है अतएव खूब-जीभर कर खाओ-पीओ, ऐश-आराम करो । धर्म-कर्म, नीति-रीति, आचार-विचार और विधि-निषेध की बातें सब थोथी हैं । धार्मिक, सामाजिक और राष्ट्रीय मर्यादाएं या आचार-संहिताएं खोखली हैं । यह दृष्टिकोण कितना अपूर्ण और भ्रमपूर्ण है ? इस प्रकार की भावना अत्यन्त घातक और सर्वतोमुखी विनाश करने वाली है । यह भावना व्यक्ति के जीवन को नष्ट करती है, परिवार को बर्बाद करती है, समाज को कलंकित करती है, राष्ट्र का अधःपतन करती है और विश्व में संघर्ष पैदा करती है ।

आध्यात्मिकता की ओर झुकाव :

विश्व में वैज्ञानिक क्षेत्र में बहुत प्रगति हुई है । विज्ञान ने भौतिक दृष्टि से बहुत विकास किया है । नित्य नये अनुसन्धानों ने विश्व को चमत्कृत किया है । निस्संदेह भौतिक दृष्टिकोण से विज्ञान बहुत आगे बढ़ चुका है । परन्तु इन अनुसंधानों का लक्ष्य भौतिक मात्र होने के कारण दुनिया के आंगन में जो सुख-शांति परिलक्षित होनी चाहिए थी, वह नहीं हो रही है । इतना ही नहीं, इन अनुसन्धानों

के कारण विश्व में अशान्ति का वातावरण वढ़ा है। यह सब निराशाजनक स्थिति है, परन्तु इस बीच अब आशा की किरण प्रस्फुटित हो रही है। भौतिकवादी वैज्ञानिक अब इस सत्य और तथ्य को समझने लगे हैं कि एकान्त भौतिकवादी दृष्टिकोण विश्व के लिए हितकारी नहीं है। उन्हें अब अनुभव होने लगा है कि भौतिकता ही सब कुछ नहीं है। जिन लोगों ने भौतिक साधनों के सहारे दुनिया में रक्तक्रांति का सूत्रपात किया और जो वहुत दूरी तक इस मार्ग पर चले, वे भी अब अनुभव करने लगे हैं कि दुनिया में शान्ति स्थापित करने का यह सही मार्ग नहीं है। उनकी दृष्टि अब वाहर से हटकर अन्दर की ओर मुड़ती हुई दृष्टिगत होती है। वे समझने लगे हैं कि आध्यात्मिक धरातल पर ही सच्चरित्रता स्थायी रह सकती है। नैतिकता भी आध्यात्मिक आधार पर पुष्ट होती है अन्यथा वह प्रदर्शन और व्यवसाय का रूप ले लेता है।

इस आध्यात्मिकता की ओर जिन वैज्ञानिकों का ध्यान गया है, उनमें प्रमुख स्ट्रांगवर्ग ने मानव जीवन के विषय में महत्वपूर्ण विवेचन किया है और अभौतिक तत्व की स्थापना प्रतिपादित की है। उन्होने अपनी 'यंग युनिवर्स' नामक पुस्तक में जो अभौतिकता का विवेचन प्रस्तुत किया है, वह दूसरे विश्वयुद्ध के वाद का क्रान्तिकारी विवेचन माना जाता है। उसकी भूमिका लिखी है, डा० आइन्सटाइन ने। वैज्ञानिक अनुसंधान की सभी शोध-संस्थाओं ने उसका हृदय से स्वागत किया है। वह अभौतिक तत्व अध्यातम की ओर संकेत कर रहा है।

हमारे यहां की कुछ विचित्र ही स्थिति है। पश्चिम

के लोग भौतिकता से ऊब कर, त्रस्त होकर, परेशान होकर अन्यत्र शांति की खोज कर रहे हैं, वहां भारतीय जनता का मानस भौतिकता की ओर ललचाई दृष्टि से देख रहा है। यह भारतीय जनता के लिए लज्जा का विषय होना चाहिए कि पाश्चात्य देश जिसे उतार कर फेंक रहे हैं, उसे भारतीय अपना शृंगार समझ रहे हैं। यूरोप, अमेरिका या रूस के लोग भौतिकता से ऊब चुके हैं और वे अभौतिक तत्व की प्राप्ति के प्रति उत्सुकता प्रकट कर रहे हैं, वहां भारतीय जनता विरासत में प्राप्त विभूति अध्यात्म को भुला कर भौतिकता की ओर कदम बढ़ा रही है।

भारत भूमि का तो यह सौभाग्य रहा है कि यहां आध्यात्मिक धरातल पर सच्चरित्रता के विषय में समय-समय पर महत्वपूर्ण मार्गदर्शन मिलता रहा है। तीर्थंकरों, ऋषि-मुनियों और अन्य महापुरुषों ने समय-समय पर चरित्र के निर्माण पर बल दिया है। यही नहीं, स्वयं अपने चरित्र द्वारा उन्होंने दुनिया के समक्ष आदर्श प्रस्तुत किया है।

उल्टी गंगा बह रही है :

दुनिया के अन्य देशों का ध्यान भारत की आध्यात्मिकता की ओर आकर्षित हो रहा है। वे भारत भूमि को आध्यात्मिक जीवन की जननी मानते हैं। यहां आकर वे जीवन में शांति का अनुभव करने की अभिलाषा रखते हैं। आत्मिक साधना के प्रति उनमें जिज्ञासा और रुचि जागृत हो रही है। परन्तु दुःख का विषय है कि भारतीय जनता अपनी मौलिकता को नष्ट कर भौतिकता की भूलभुलैया में

फंसती चली जा रही है । आत्मिक वैभव के उत्तराधिकारी स्वयं को दीन-हीन मान कर अमेरिका, रूस आदि विदेशों की ओर ललचाई दृष्टि से देख रहे हैं जबकि विदेशी जनता भारत की आध्यात्मिक सम्पदा से आकर्षित हो रही है। भारतवासी भौतिक सम्पदा की भूख से अमेरिका, इंग्लैण्ड आदि देशों की ओर देख रहे हैं । इस प्रकार यहां उल्टी गंगा बह रही है ।

भारतीय जनता का मानस इतना गुलाम बन गया है कि उन्हें अपनी संस्कृति, अपनी नीति-रीति अच्छी नहीं लगती और प्रत्येक क्षेत्र में विदेशों की नकल करना ही उनका एकमात्र लक्ष्य हो गया है । विदेशों की जनता भारत से, उसकी सांस्कृतिक और आध्यात्मिक सम्पदा से बहुत कुछ अपेक्षाएं रखती है, जबकि भारतवासी रूस की रक्तक्रांति से प्रभावित हो रहे हैं । वे रूस और चीन की नीतियों के राग अलाप रहे हैं जबकि वहांकि जनता उनको असफल मान कर अन्यमार्ग की शोध में लगी हुई है । भारतीय जनता की यह अविवेकपूर्ण नकल-वृत्ति उसके दिमाग की गुलामी को अभिव्यक्त करती है ।

दूसरों की तरफ अविवेकपूर्ण दृष्टि रखने से, पराई वस्तु को ही अच्छी मानने से भारतियों की दशा विपन्न और दीन-हीन बनी हुई है । यदि भारतीय जनता उत्तराधिकार में मिले हुए अपने सिद्धांतों पर, चरित्र निष्ठा पर प्रामाणिकतापूर्वक आचरण करती तो वह विश्व में सर्वाग्रगण्य होती ।

अब भी कुछ नहीं बिगड़ा है, अब भी संभलने का अवसर

है। यदि सुख-शांति चाहते हो, यदि दुनिया में प्रगतिशील कहलाना चाहते हो, यदि प्रगति की दौड़ में आगे बढ़ना चाहते हो तो इसके लिए एक ही उपाय है, चरित्र की प्रतिष्ठा। यदि सच्चरित्र को महत्त्व दिया जाय, उसका वास्तविक मूल्यांकन किया जाय, उसको जीवन का मापदण्ड बनाया जाय, उससे व्यक्ति को तोला जाय तो भारत का सारा का सारा नक्शा ही बदल सकता है। आवश्यकता है कि इस चारित्र्य गुण को जीवन के हर क्षेत्र में पुनः प्रतिष्ठित किया जाय। व्यक्तिगत जीवन में, पारिवारिक परिवेश में, धर्म और समाज के क्षेत्र में, राष्ट्रीय परिधि में और विश्व के विशाल दायरे में भी चारित्रिक गुणों का विकास किया जाय। ऐसा करने से उन सभी समस्याओं का समाधान हो जाएगा जो आज भयंकर रूप में देश और विश्व के सामने खड़ी हैं।

सात्विक और तामसिक शक्तियों का संघर्ष विश्व के मंच पर सदाकाल से चलता रहा है और चलता रहेगा। तामसिक शक्तियां आंधी तूफान की तरह सात्विक शक्तियों को परास्त करने में लग जाती हैं तदपि सात्विक शक्तियां अपनी साधना के आधार पर दृढ़ बनी रहती हैं। थोड़े समय के लिए घटाटोप मेघ सूर्य की प्रभा को आच्छादित कर सकते हैं परन्तु सूर्य के अस्तित्व को वे समाप्त नहीं कर सकते। अन्ततोगत्वा सूर्य का प्रभापुंज प्रकट होकर ही रहता है। यदि व्यक्ति सात्विकता के साथ चारित्र बल का सम्बल लेकर जीवन में गतिशील होता है तो प्रारम्भ में भले ही उसे आंधी-तूफान का सामना करना पड़े, अन्ततः वह सब कसौटियों को पार करता हुआ जीवन में सफलता

प्राप्त करता है ।

राजगृही नगरी के उन भौतिकवादी युवकों ने राज्य या राजा के प्रति संभवतः कुछ ऐसा व्यवहार किया होगा जिससे तत्कालीन नरेश ने उन व्यक्तियों को विना कुछ सोचे समझे वहुत प्रश्रय दे दिया था, जिसके कारण वे युवक अपने आप को सर्वतंत्र-स्वतंत्र समझने लगे थे और मन मानी करने पर तुले हुए थे । नीतिकारों का कथन है—

यौवनं धन सम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकता ।
एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम् ।।

जवानी अपने आप में इतनी दीवानी है कि यदि इस पर नियंत्रण नहीं रखा जाय तो यह भयंकर अनर्थों की परम्परा को जन्म देती है । यह शांत और सुखी जीवन में आग लगाने वाली हो सकती है । जवानी (यौवन) के साथ यदि धन सम्पत्ति का योग हो जाय तो अनर्थों की संभावना एक पर एक ग्यारह की तरह बढ़ जाती है । यदि इसके साथ प्रभुत्व (सत्ता) मिल जाय तो १११ एक सौ ग्यारह की तरह अनर्थों की संभावना वहुत अधिक बढ़ जाती है। यदि इनके साथ अविवेक भी जुड़ जाय तो फिर कहना ही क्या है ? सर्वनाश ही समझ लेना चाहिए । यौवन, धन-सम्पदा, सत्ता और अविवेक - ये चारों अलग-अलग भी भयंकर अनर्थकारी होते हैं । जव ये चारों एक स्थान पर एकत्र हो जाएं तव तो कहना ही क्या ? उस परिस्थिति में सर्वथा वर्वादी ही समझ लेनी चाहिए । वे सर्वनाश के कारण वनते हैं ।

राजगृही की वह टोली इन चारों दुर्गुणों से भरी हुई थी। तरुणाई थी, वैभव था, सत्ता भी मिल गई थी और विवेक का दीपक भी बुझ चुका था। उनकी उद्दण्डता सीमा पार कर गई थी। अनैतिकता और चरित्रहीनता उनकी जीवनचर्या बन चुकी थी। निरंकुशता के कारण वे मनमानी करने पर तुले हुए थे।

दुराचार की पराकाष्ठा :

उन छह व्यक्तियों ने उद्दण्डता के साथ उद्यान में प्रवेश किया। अर्जुन माली को पुष्पचयन करते हुए उन्होंने देखा। उनकी दृष्टि यहीं तक सीमित नहीं रही। अर्जुन माली की धर्मपत्नी की ओर भी उनकी दृष्टि गई। उसके रूप लावण्य को देखकर वे युवक वासना से पागल बन गये और दुर्भावना से यक्षालय मे जाकर कपाट की ओट में छिप गये। जब अर्जुन माली अपनी पत्नी सहित यक्षालय में पहुंचा त्योंही पीछे से आकर उन्होंने उसे पकड़ लिया और उसकी मुश्कियां बांध दीं। इसके पश्चात् उन्होंने उसकी धर्मपत्नी के साथ जो अवर्णनीय दुर्व्यवहार किया, वह मानवता के लिए कलंक और अभिशाप था। अर्जुन माली का कलेजा फटा जा रहा था। आक्रोश और रोष के कारण वह तमतमा रहा था परन्तु बन्धनों के कारण वह लाचार और विवश था। अपनी आंखों के सामने यह अत्याचार और पापाचार होता हुआ देख कर उसका आक्रोश अत्यन्त तीव्र और प्रचण्ड हो उठा। वह सहसा बोल उठा, 'क्या इस यक्ष में कोई तथ्य और सत्य नहीं रह गया है?'

ऐसे स्थानों पर व्यन्तर जाति के देव परिभ्रमण

करते रहते हैं। संयोग की बात है कि ज्योंही अर्जुन माली के मन में ऐसा विकल्प हुआ त्योंही मुद्गरपाणि यक्ष ने अपनी वैक्रिय शक्ति के बल से अर्जुन माली के शरीर में प्रवेश किया। यक्षाविष्ट अर्जुन माली ने अपने सब बन्धन तोड़ डाले और हजार पल प्रमाण मुद्गर–जो किसी के उठाये नहीं उठता था—उठाकर उन छहों व्यक्तियों को मार डाला। उसने अपनी पत्नी को भी इस अर्थ में दोषी माना कि उसने अत्याचारियों के अत्याचार को सहन किया। यदि वह चाहती तो अत्याचारियों के अत्याचार की शिकार बनने के पूर्व ही अपनी जिह्वा खींचकर प्राण त्याग देती। उसे भी अपराधिनी मानकर उसने उसकी भी हत्या कर दी।

अपराध के भागीदार :

अर्जुन माली की विचारधारा आगे बढ़ी। उसने सोचा, इन युवकों में यह उद्दण्डता कैसे पनपी? कौन है, इनको प्रोत्साहित करने वाला? इस नगर के नरेश और जनता भी अपराधी हैं जिन्होंने ऐसे गुंडों को – अत्याचारियों को, दुराचारियों को, समाजद्रोहियों को प्रश्रय दिया है। कहीं भी चरित्रहीनता का प्रसंग आवे और यदि जनता उसे चुपचाप सहन करती रहे, यदि उसका उचित प्रतिकार न करे तो वह भी अपराधी है। यक्षाविष्ट अर्जुन माली प्रतिदिन छह पुरुष और एक स्त्री की हत्या करने लगा।

राजगृही नगरी में इस भयंकर घटना–चक्र को लेकर तहलका मच गया। राजकीय व्यवस्था व्यस्त-व्यस्त हो गई। जनता का जीवन संकट में पड़ गया। नरेश ने आज्ञा प्रसारित की कि 'कोई व्यक्ति नगर से बाहर नहीं जावे।

बाहर अर्जुन माली का उपद्रव है। वह बड़ा बलवान है। यदि कोई बाहर जाएगा तो वह प्राणों से हाथ धो बैठेगा। सरकार इसके लिए जवाबदार नहीं होगी। सब लोग किले में आ जावें। वहां सारी व्यवस्था रहेगी।' नगर के द्वार बन्द कर दिये गये। लोगों का आवागमन बन्द हो गया। तदपि उस यक्षाविष्ट अर्जुन ने इधर-उधर से आने-जाने वाले व्यक्तियों को मारना चालू रखा। उसने ११४१ व्यक्तियों की हत्या कर दी। दुनिया की दृष्टि में वह घोरतम पापी था परन्तु सोचने का विषय है कि उसे इस क्रूरतम स्थिति में पटकने वाला कौन है? क्यों वह इतना निष्ठुर पापी बन गया?

बन्धुओ! यदि गंभीरता से चिन्तन करेंगे तो मालूम होगा कि अर्जुन माली को हत्यारा बना देने में चरित्रहीनता का सर्वोपरि भाग है। साथ ही वह जनता भी इसके लिए दोषी है जिसने ऐसे दुराचारियों को सहन किया। उन्हें इस सीमा तक स्वच्छन्द और उद्दण्ड बनने दिया। यदि जनता भावात्मक एकता के साथ उन युवकों का प्रतिकार करती तो ऐसी नौबत ही नहीं आती। परिस्थिति-वश राज्य ने कैसी भी आज्ञा क्यों न प्रसारित कर दी हो, यदि जनता में एकता हो तो वह जनार्दन का रूप ले लेती है। जनता-जनार्दन अपने नैतिक और सात्विक आधारों पर एकता के बल से बड़ी-बड़ी शक्तियों को परास्त कर सकती है। परन्तु जनता में यदि एकरूपता नहीं है, 'मुण्डे-मुण्ड मतिर्भिन्ना' की स्थिति है, 'अपनी-अपनी डफली और अपनी-अपनी राग' की कहावत चरितार्थ होती रहती है तो बड़ी दयनीय दशा बन जाती है। अर्जुन माली ने हत्याएं कीं, उसे पाप अवश्य

लगा । फिर भी वह अकारण पाप नहीं कर रहा था । वह सामाजिक पाप के प्रतिशोध के लिए पाप कर रहा था । वह मूलतः हत्यारा या पापी नहीं था । उसे हत्यारा और पापी बनाया चरित्रहीनता के अपराधियों ने ! समाज से पोषण पाती हुई दुराचार की वृत्तियों ने उसे हिंसक बनाया । इस अर्थ में इन हत्याओं के लिए अर्जुन माली जितना दोषी है, उतना ही बल्कि उससे भी अधिक दोषी है, समाज में व्याप्त दुराचार और अमर्यादित स्वेच्छाचार । अपराध को ऊपर-ऊपर से देखने के बजाय उसके मूल को पकड़ना चाहिए । यह देखना चाहिए कि अपराध का उद्गम कहां से हुआ है ?

पतित पावन प्रभु महावीर का पदार्पण :

ऐसे विषम वातावरण में आध्यात्मिक अन्तरिक्ष के जाज्वल्यमान सितारे, जगदुद्धारक, उज्ज्वलतम चारित्र के स्वामी, पापियों के पापों को धो देने वाले पतित-पावन श्रमण भगवान् महावीर राजगृही के बाहर पधारे । उन्हें किसी प्रकार का भय नहीं था क्योंकि वे स्वयं सब प्राणियों के अभयदाता थे । जो अभय देता है, वह निर्भय होता है । जो दूसरों को भय देता है, भयभीत करता है, आतंकित करता है, वह स्वयं भयभीत और आतंकित होता है । प्रभु महावीर जगत् के सब जीवों के लिए अभयदाता थे । अतः उन्हें भय किस बात का हो ? वे अपनी आत्मिक शक्ति से सम्पन्न थे । उनको किसी का क्या भय हो सकता है ? वे निर्भय होकर राजगृही के बाहर उद्यान में विराजे ।

नगर में सूचना व्याप्त हुई कि पतित-पावन प्रभु

महावीर का नगर के बाहर पदार्पण हुआ है। नगर निवासियों की उत्कंठा हुई कि प्रभु के दर्शन कर नेत्रों को पावन करें, उनकी वाणी श्रवण कर कानों को कृतार्थ करें, उनकी पर्युपासना कर जीवन को धन्य बनावें परन्तु इस कार्य में सबसे वड़ी वाधा है—अर्जुन माली का उपद्रव ! वह मार्ग में उपद्रव मचाता है। वह किसी को जीवित छोड़ने वाला नहीं है। वड़ी विषम समस्या है राजगृही के निवासियों के सामने !

यदि कोई भावुक व्यक्ति दर्शन करने हेतु जाने को उत्सुक बनता है तो उसके परिवार के व्यक्ति उसे समझाते हैं कि भाई ! तुम यहीं से प्रभु को वन्दन कर लो। वे परमात्मा महावीर प्रभु यहीं से तुम्हारी वन्दना स्वीकार कर लेंगे। वे घट-घट के ज्ञाता हैं। यदि हठ करके तुम जाओगे भी तो अर्जुन माली तुम्हें प्रभु के पास पहुंचने भी नहीं देगा। वीच में ही वह तुम्हारी हत्या कर देगा। अतः यही अच्छा है कि यहीं से प्रभु को वन्दन कर लिया जाय। नागरिक वड़ी दुविधा में फंसे हुए थे। उन्हें कुछ सूझ नहीं रहा था।

सुदर्शन की दर्शन-भावना :

श्रमणोपासक सुदर्शन सेठ को जव प्रभु के पदार्पण के समाचार ज्ञात हुए तो वह प्रभु के दर्शनों की उत्कंठा से विभोर हो उठा। उसकी दर्शन-भावना इतनी तीव्र और उत्कट थी कि वह अपने प्राणों की कीमत पर भी प्रभु के दर्शनों के लिए अधीर हो उठा। उसे अपने चरित्र-वल पर पूरा विश्वास था। उसने सोचा, 'मैं श्रमणों का उपासक हूँ और श्रमण भगवान् महावीर पधारे हैं। यदि मैं उनकी

उपसना नहीं करता हूँ तो मैं वास्तविक अर्थों में श्रमणो-पासक नहीं हूँ। मैंने श्रमण भगवान् महावीर का तत्त्वज्ञान सीखा है, आत्मा और शरीर के भेद को जाना है, जड़ और चेतन के विवेक को समझा है। आत्मा शाश्वत है और शरीर अशाश्वत है। अशाश्वत शरीर के लिए शाश्वत धर्म की अवहेलना करना उचित नहीं है। मेरा जीवन आध्यात्मिक धरातल पर अवलम्बित है। प्राणों से अधिक महत्त्व होता है धर्म और कर्त्तव्य का! अतएव किसी भी कीमत पर मुझे प्रभु के दर्शनार्थ जाना ही है।'

उक्त भावना को लेकर सुदर्शन घर से निकला। वह निर्भय होकर आगे बढ़ रहा है। ऐसी निर्भीकता भौतिक जीवन से ऊपर उठने पर आती है। जब तक भौतिक पिण्ड-शरीर पर ममत्व है, जब तक भौतिक-पौद्गलिक पदार्थों में आसक्ति है, तबतक आध्यात्मिक तत्त्व पर विश्वास नहीं बैठता। एक बार अध्यात्म में पक्का विश्वास हो जाता है तो वह व्यक्ति भौतिक तत्त्वों की परवाह नहीं करता। सुदर्शन गृहस्थ था परन्तु उसमें सदाचार का—अध्यात्म का प्रबल बल था। उस अध्यात्म की आस्था ने उसे निर्भय बना दिया था। वह प्रभुदर्शन के लिए गन्तव्य मार्ग पर आगे बढ़ रहा है।

सुदर्शन को जाते हुए देख कर कुछ लोग उसका उपहास भी करने लगे। वे कहते थे—'देखो, धर्म का ढोंगी जा रहा है। जब उसका बाप अर्जुन माली सामने आयेगा तो खबर पड़ेगी कि दर्शन करना कैसा होता है?' इस प्रकार ऊंची-नीची अनेक प्रकार की चर्चाएं भी सुनाई पड़ती

थीं। परन्तु सच्चा व्यक्ति मान-अपमान से विह्वल नहीं होता। वह न प्रशंसा का भूखा होता है और न निन्दा-अपमान से डरता है। वह तो अनासक्त भाव से कर्तव्य पथ पर आगे बढ़ता रहता है।

सुदर्शन राजगृही से बाहर निकल गया। अर्जुन माली उसकी तरफ आया। कई दिनों से उसे कोई शिकार नहीं मिल रहा था। भूखे सिंह की तरह वह उसकी ओर लपका। सेठ सुदर्शन ने सोचा कि यह अर्जुन माली अभी जिस स्थिति में चल रहा है, उसे देखते हुए इस समय इसे समझाने का अवसर नहीं है। यह मुझ पर आक्रमण करेगा ही। उपसर्ग की स्थिति को सामने देख कर मुझे आत्म-शुद्धि कर लेनी चाहिए। मुझे शरीर का मोह नहीं है. यह जाये या रहे, इसकी मुझको चिन्ता नहीं है परन्तु आत्मिक आलोचना द्वारा मुझे अपनी आत्मा का संशोधन कर लेना चाहिए। यह विचार कर वह शुद्ध भूमि को पूंज कर वहां बैठ गया। वहीं से प्रभु को नमस्कार किया और निवेदन किया कि मैं आपके दर्शन हेतु आ रहा था परन्तु मार्ग में उपसर्ग आ जाने के कारण अपने जीवन की आलोचना आपके चरणों में अर्पण करता हूँ। मैंने अपने जीवन को शुद्ध रखने का प्रयास किया है, किसी तरह का अनैतिक आचरण नहीं किया है, समाज या राष्ट्र के प्रति द्रोह नहीं किया है. नीतिपूर्वक धार्मिक जीवन यापन करते हुए मैं आगे बढ़ा हूँ तदपि भूल हो जाना स्वाभाविक है। जानते अजानते होने वाले दोषों की शुद्धि हेतु मैं आलोचना [illegible] करता हूँ। आगे के लिए प्रत्याख्यान करता हूँ। इस अवस्था में यदि यह जीवन छूट जाय तो जीवन पर्यन्त के लिए चारों

आहार और अठारह ही पापों का प्रत्याख्यान करता हूं। यदि उपसर्ग टल जाय तो श्रावक की मर्यादा से चलूंगा। इस प्रकार उसने सागारी संथारा अंगीकार कर लिया। वह निर्भय होकर परमात्मा का ध्यान करने लगा। उसने प्रभु से यह प्रार्थना नहीं की कि 'हे प्रभो ! मैं आपका उत्कृष्ट भक्त हूँ। आपके दर्शन के लिए आ रहा हूँ अतः आप मेरी रक्षा करें। यदि मैं बीच में मारा जाऊंगा तो लोग आपको बदनाम करेंगे कि देखो भगवान् का भक्त मारा गया। इस प्रकार स्वार्थ-भरी प्रार्थना उसने नहीं की। सच्चा भक्त भौतिक कामना नहीं करता। वह अपने स्वार्थ के लिए प्रभु को प्रार्थना की रिश्वत नहीं देता। वह अपनी कर्त्तव्य-निष्ठा को लेकर ही चलता है। दूसरों के संरक्षण के लिए वह अपना जीवन अर्पण कर देता है परन्तु अपने जीवन के लिए वह याचना नहीं करता।

जटायु की भक्ति :

रामायण में जटायु का प्रसंग आता है। रावण ने इस पक्षी के पंख उखाड़ दिये थे। सीता की खोज में जब पुरुषोत्तम राम उसके पास पहुंचे तो उन्होंने उसे गोद में उठा लिया और कहा, 'तूने अनीति का प्रतिकार किया, रावण के साथ संघर्ष में उसने तेरे पंख उखाड़ लिये। तूने अपनी शक्ति के अनुसार बहुत बड़ा कार्य किया है। मैं तुझ से प्रसन्न हूँ। तू चाहे तो मैं तेरे सोने के पंख लगा दूं और चाहे तो पहले जैसे ही पंख लगा दूं।'

जटायु ने गद्गद् होकर कहा—'प्रभो ! मुझे न सोने के पंख चाहिए और न पूर्ववत् पंख हो। मुझे तो केवल आपकी

गोद चाहिए और मैं उसी में अपने जीवन का अन्तिम क्षण बिताना चाहता हूँ।'

बन्धुओ ! जटायु जैसी भक्ति भावना आज के मनुष्यों में अथवा भक्त कहे जाने वालों में है क्या ? यदि जटायु के स्थान पर आज का मनुष्य हो और कोई उसे कहे कि भाई, मानलो यदि किसी ने तुम्हारे हाथ पांव तोड़ दिये तो क्या मैं सोने के हाथ-पांव लगा दूं ? तो कितने भाई तैयार हो जावेंगे ? लोग सोने के पीछे पागल हो रहे हैं परन्तु यह नहीं जानते कि पीछे भागने से सोना नहीं मिलता। छाया के पीछे ज्यों-ज्यों दौड़ा जाता है, त्यों-त्यों छाया आगे भागती है। छाया को पीठ देते हैं तो वह अपने आप पीछे भागती चली आती है।

सुदर्शन का ध्यान :

सुदर्शन श्रमणोपासक दृढ़ आत्मनिष्ठा के साथ बैठा हुआ है। वह आत्मालोचन में लगा हुआ है। ध्यान की मुद्रा में वह अवस्थित है। ध्यान की भी कई मुद्राएं होती हैं। किसी में आंखें बन्द की जाती हैं, किसी में आंखें खुली रहती हैं और नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि स्थिर रखी जाती है। उपसर्ग की स्थिति में सेठ सुदर्शन की ध्यान मुद्रा में आंखों की पलक खुली हुई थीं। अर्जुन माली का मुद्गर उठा, यह सुदर्शन की दृष्टि में आ गया था। सेठ अविचल रहा। उसके मन में तनिक भी अस्थिरता नहीं आई, वह डांवाडोल नहीं बना, अर्जुन के प्रति उसे तनिक भी द्वेष नहीं आया। सुदर्शन मुद्गर-प्रहार की प्रतीक्षा में है परन्तु यह क्या हुआ, मुद्गर अर्जुन के हाथ में ऊंचा उठा ही रह

गया, वह नीचे नहीं आ सका ! ज्योंही सुदर्शन की दृष्टि अर्जुन पर पड़ी, उसके शरीर से यक्ष का प्रभाव हट गया। अर्जुन धड़ाम से पृथ्वी पर गिर पड़ा। संघर्ष की सारी स्थिति समाप्त हो गई। सुदर्शन अब अर्जुन माली को भी आत्मीय भाव से देखने लगा। उसे इस घृणित कल्पना का स्पर्श तक नहीं हुआ कि 'यह हत्यारा है, इसने ११४१ निरपराध व्यक्तियों की हत्या की है, यह मर रहा है तो मरने दो, ऊपर से दो लात और टिकाओ। पापी को पाप की सजा मिलनी ही चाहिए।' सेठ सुदर्शन ने उससे घृणा नहीं की। उसने उसकी सार-संभाल की। उसे होश में लाने के प्रयास किये। होश आने के बाद अर्जुन माली ने पूछा—'आप कौन हैं ? कहां पधार रहे हैं ?'

सुदर्शन ने मृदु स्वर में कहा, 'मैं श्रमणोपासक सुदर्शन हूँ और मेरे आराध्य श्रमण भगवान् महावीर की उपासना के लिए जा रहा हूँ।'

अर्जुन सोचता है कि जिसके भक्त में इतनी शक्ति है कि दृष्टि पड़ते ही यक्ष का प्रकोप नष्ट हो गया, उसके भगवान् कितने शक्तिशाली होंगे ?'

आप भी सोचते होंगे कि 'दृष्टि पड़ने मात्र से यह सब कैसे हो गया ?' परन्तु दृष्टि में अचिन्त्य शक्ति होती है। उसे साधने की आवश्यकता है। सच्चरित्रता और पवित्राचार के द्वारा यह संभव है। चरित्रहीनता हो तो अन्तर की साधना नहीं होती। चरित्रहीन की दृष्टि में कोई ताकत नहीं होती। उसकी दृष्टि क्षीण होती जाती है। जो

आध्यात्मिक जीवन निष्ठा से स्पंदित होता है, उसकी दृष्टि में शक्ति आ जाती है। आप इस विषय में चिन्तन करेंगे तो आपको यह अनुभव हो सकेगा।

आत्मिक बल के सहारे दुनिया आगे बढ़ सकती है। जब अन्य सब बल हार जाते हैं तब आध्यात्मिक शक्ति का सहारा प्राप्त होता है। ज्ञानीजनों ने इस भाव को प्रकट करते हुए कहा है:—

आतम बल है सब बल का सरदार, आतम बल ही है।
आतम बल वाला अलबेला, निर्भय होकर देता ठेला।
लड़ कर शेष जगत से आखिर लेता बाजी मार।
आतम बल ही है, सब बल का सरदार, आतम बल ही है।

कविता की अनुभवपूर्ण कड़ियों में कहा गया है कि 'दुनिया में कई तरह के बल माने गये हैं परन्तु सब बलों में प्रधान बल आत्म-बल ही है। आत्म-बल की शक्ति बड़ी विचित्र होती है। दुनिया की सारी ताकतें एक ओर हों तो भी वह अकेला ही उनसे संघर्ष करता है और अन्ततः विजय प्राप्त करता है। सेठ सुदर्शन का उदाहरण आपके सामने है। वह अकेला ही आपत्ति की पर्वाह किये बिना प्रभु के दर्शन हेतु चला और कोई उसके साथ नहीं था। केवल आत्म-बल ही उसका अभिन्न साथी था। आत्मिक बल से सुदर्शन ने यक्षाविष्ट अर्जुन माली को परास्त किया। उसके उपद्रव से जनता को मुक्त किया और स्वयं अर्जुन माली तक के जीवन की दिशा को नया मोड़ दे दिया। यह बात सुदूर

अतीत काल की है। परन्तु वर्तमान समय में भी आत्मिक शक्ति के चमत्कार की घटनाएं कर्णगोचर होती हैं। उनमें से एक इस प्रकार है:—

फक्कड़ महात्मा :

अंग्रेजों के शासन-काल की घटना है। एक आत्मिक शक्ति का प्राथमिक साधक अपने निजी कारणों को लेकर मद्रास की ओर रेल से यात्रा कर रहा था। एक अंग्रेज ऑफिसर भी उसी डिब्वे में आकर बैठा। उसने देखा कि यह हट्टा-कट्टा हिन्दुस्तानी है। वह भयभीत और आशंकित होने लगा। उसने रेल अधिकारियों से कहा कि इस व्यक्ति को इस डिब्वे से हटा दो। अंग्रेजों का साम्राज्य था। रेल अधिकारियों ने उस महात्मा को कहा कि तुम यहां से उठ कर दूसरे डिब्वे में चले जाओ। उसने कहा, 'क्यों जाऊं ? मेरे पास भी टिकिट है। मैं यहा से नहीं हटूंगा।' अधिकारियों ने वहुतेरा कहा परन्तु महात्मा भी फक्कड़ थे। वे अड़ गये। उधर वह अंग्रेज शीघ्रता कर रहा था—जल्दी उतारो इसको। अधिकारियों ने कहा--'बावा ! उतर जाओ नहीं तो घसीट कर उतार देंगे। उसने सोचा--'अव जिद्द करना बेकार है, अपमानित होने से क्या लाभ है ?' वह उतर पड़ा। अंग्रेज ऑफिसर प्रसन्न हो गया। अधिकारियों ने गाड़ी चलाई परन्तु यह क्या ? इञ्जिन आगे वढ़ता ही नहीं ! ड्राइवर ने वहुत प्रयत्न किया परन्तु सब निष्फल हुआ। दूसरा इञ्जिन मंगवाया गया परन्तु वह भी कारगर सिद्ध नहीं हुआ। तीसरा इंजिन लगाया गया, वह भी निरर्थक हुआ। आखिर उन्होंने देखा कि वात क्या है ? चर्म-चक्षुओं से कुछ प्रतीत नहीं हुआ। सूक्ष्म-दर्शक यन्त्र से

देखने पर ज्ञात हुआ कि कुछ किरणें वहां सक्रिय हैं। उसका अनुसंधान किया गया कि आखिर ये किरणें कहां से आ रही हैं ? अनुसंधान से पता चला कि जिस फक्कड़ महात्मा को गाड़ी से नीचे उतारा था, वह अपने सिर के पीछे हाथ रख कर बैठा हुआ था और उसकी दृष्टि इंजिन पर लगी हुई थी। उसकी दृष्टि में इतनी ताकत थी कि इंजिन की मशीनरी भी ठप्प हो गई। रेल्वे के अधिकारी आश्चर्य-चकित रह गये। उन्होंने अंग्रेज आफिसर को सारी स्थिति समझाई। वह ऑफिसर नीचे उतरा। उस फक्कड़ महात्मा के चरणों में टोप डाल कर कहा कि 'आप पधारिये और उसी डिब्बे में बैठिये।' उसने कहा, 'नहीं, तुम जाओ ! हिन्दुस्तानियों के प्रति तुम ऐसा दुर्व्यवहार करते हो ! तुम बैठो उस डिब्बे में, हम बाद में आ जाएंगे।' अंग्रेज ऑफिसर ने बहुत अनुनय-विनय की तब कहीं जाकर वह फक्कड़ उसी डिब्बे में बैठा। उसके बैठते ही इंजिन धड़-धड़ करता हुआ आगे बढ़ता गया।

भाइयो ! यह चमत्कार तो आध्यात्मिक शक्ति का साधारण रूप है। इससे कई गुनी अधिक शक्ति होती है आत्मबल की। कवि आगे कहता है:—

कैसी भी हो फौज भयंकर तोप मशीनें हों प्रलयंकर।
आतम-बली रहता है निर्भय, देता सभी को हार।
आतम बल ही है सब बल का सरदार, आतम बल ही है॥

तोप, मशीनगन और अन्य शस्त्रास्त्र आध्यात्मिक शक्ति के सम्मुख तुच्छ हैं। गांधी जी के जीवन की भी एक घटना प्रासंगिक रूप से उल्लेखनीय है।

गांधी जी का आत्मबल :

दक्षिण अफ्रीका की घटना है। वहां मजदूरों और मालिकों के बीच वेतन वृद्धि और कार्य के घंटों को लेकर विवाद हो गया था। गांधी जी ने मजदूरों के पक्ष को उचित माना, अतएव वे उनका मार्ग-दर्शन कर रहे थे। मालिकों ने सोचा कि यह गांधी मजदूरों को प्रोत्साहित कर रहा है, अतएव इसको ही अपने पक्ष में कर लेना उचित है। यह गांधी गरीब देश—हिन्दुस्तान- से आया है, शायद यह पैसों का भूखा है। उन्होंने गांधी जी को एकान्त में बुलाया और कहा, 'मिस्टर गांधी ! तुम दस-बीस हजार रुपये ले लो। इन मजदूरों का दिमाग खराब मत करो।'

गांधी जी ने उत्तर दिया ! मैं मजदूरों का माथा खराब नहीं कर रहा हूँ अपितु उनका मस्तिष्क सुधार रहा हूँ। मैं पैसों का गुलाम नहीं हूँ ! मैं न्याय-नीति में विश्वास करता हूँ। अहिंसा में मेरी आस्था है। मजदूरों को उनके श्रम का उचित पारिश्रमिक मिलना ही चहिए। उनसे उचित सीमा तक ही काम लिया जाना चाहिए। वे मानव हैं और उन्हें मानवीय अधिकार किसी भी कीमत पर मिलने ही चाहिए। ऐसा मेरा दृढ़ मन्तव्य है।

मालिकों ने गांधी जी को फुसलाने के बहुत प्रयत्न किये। बड़े-बड़े प्रलोभन दिये परन्तु गांधी जी ने नीति पर दृढ़ रहते हुए सब प्रलोभनों को ठुकरा दिया। जब प्रलोभन कारगर न हुए तो उन्होंने गांधी जी को धमकी दी। एक

व्यक्ति पिस्तौल लेकर खड़ा हो गया और कहने लगा कि 'मिस्टर गांधी, अपने इष्टदेव को याद कर लो। बटन दबाते ही समाप्त हो जाओगे।'

गांधी जी का उत्तर बड़ा मार्मिक था। वे बोले, 'जो व्यक्ति मुझे इष्टदेव के स्मरण की बात कहता है, वह मुझे कभी नहीं मार सकता।'

उस व्यक्ति के हाथ से पिस्तौल नीचे गिर पड़ी। वह थर-थर कांपने लगा। गांधी जी वहां से निकल आये।

वचन-सिद्धि :

ऐसी कई घटनाएं संतों के जीवन के सम्बन्ध में तथा निष्ठावान चारित्र-सम्पन्न श्रावकों के सम्बन्ध में सुनने को मिलती हैं। चारित्र-सम्पन्न व्यक्ति के वचनों में अपूर्व बल आ जाता है। उसको वचन-सिद्धि प्राप्त हो जाती है। स्वर्गीय आचार्य श्री गणेशीलाल जी की कई बातें कई बार आपके समक्ष रख देता हूं। उनके मुख से स्वाभाविक रूप से निकला हुआ वचन फलीभूत होता हुआ प्रायः देखा जाता था। वे जानबूझ कर इरादा पूर्वक सिद्धि की दृष्टि से कोई वचन नहीं बोलते थे परन्तु सहज भाव से यदि कोई वचन निकल जाते थे तो वे फलीभूत होते थे।

आपने जम्बू स्वामी का चरित्र सुना है। उन्होंने सोचा कि 'आज की रात्रि में धन चोरी में नहीं जाना चाहिए।' उनके इतने से संकल्प से चोरों के पैर चिपक गये! उनमें कैसी अद्वितीय चारित्र-निष्ठा थी। देवांगना सदृश आठ नवविवाहिता नववधुएं उनके समक्ष खड़ी हैं, वे उन्हें मनाने

के लिए आतुर हो रही हैं परन्तु जम्बूकुमार के मन में तनिक भी विकार उत्पन्न नहीं हुआ। कितनी प्रबल थी उनकी चरित्र-निष्ठा ! इस प्रकार की निष्ठा कब आती है ? जब आध्यात्मिकता को हृदयंगम कर लिया जाता, जब सदाचार की शक्ति एवं महत्ता की छाप दिल पर गहरी अंकित होती है तब ऐसी निष्ठा आ सकती है। आज तो अध्यात्म को उपहास का विषय माना जा रहा है परन्तु याद रखना चहिए कि यदि अध्यात्म की अवहेलना होती रही तो दुनिया में सुख-शांति का संचार कदापि संभव नहीं-अध्यात्म का आदर होगा तो ही दुनिया सर्वनाश से बच सकेगी।

अखूट खजाना :

अध्यात्म आनन्द का अखूट ख़जाना है। अपने ही अन्दर आनंद का अजस्र स्रोत बह रहा है परन्तु अफमोस है कि मानव आनन्द पाने के लिए बाहर भटक रहा है। उसके पास सब कुछ होते हुए भी वह अपने को दरिद्र अनुभव कर रहा है। यह कैसी विडम्बना है कि अपने पास रही हुई वस्तु को मनुष्य बाहर ढूंढने का प्रयत्न कर रहा है। घर में अखूट खजाना है परन्तु वह छिपा हुआ है। उसे ही अनावृत्त करने के लिए प्रयत्न होना चाहिए। जो वस्तु जहां है, वहीं वह प्राप्त हो सकती है, जो जहां नहीं है, वहां ढूंढने से वह प्राप्त नहीं हो सकती। आनन्द अन्दर रहा हुआ है। उसे अपने ही अन्दर खोजो, बाहर न भटको। चरित्र-निष्ठा के साथ अध्यात्म के सरोवर में अवगाहन करो, सब पाप और ताप नष्ट हो जाएंगे और अलौकिक शांति प्राप्त होगी।

भाइयो ! दृढ़ संकल्प करिये कि चाहे जैसी आंधी या तूफान हो, दृढ़ निष्ठा के साथ हमें चलना है, चरित्र को उज्ज्वल बनाना है और आत्मा की आवृत्त शक्तियों को अनावृत्त करना है । इसके लिए सुविधिनाथ परमात्मा की प्रार्थना करना है—

श्री सुविधि जिनेश्वर वंदिये हो, वंदत पाप पुलाय····

अर्जुन का प्रभु-वन्दन :

प्रभु को वन्दन करने से पाप नष्ट हो जाते हैं परन्तु वन्दन कैसा हो ? अर्जुन माली ने प्रभु महावीर को प्रथम वार ही वन्दन किया और ऐसी तन्मयता से वन्दन किया कि वह सच्चरित्रता के महत्त्व को समझ कर प्रभु के चरणों में दीक्षित हो गया । आपको विचार आता होगा कि प्रभु महावीर ने ऐसे पापी को साधु कैसे बना लिया ? बन्धुओ ! भगवान् पतित-पावन हैं । वे पतितों के उद्धारक हैं, पतितों के शरणदाता हैं । प्रभु की चरण-शरण में आकर पतित से पतित व्यक्ति भी अपना कल्याण कर सकता है । पापी व्यक्ति प्रभु के सम्पर्क में आकर अपने जीवन की दिशा को मोड़ लेता है । वह प्रायश्चित्त के द्वारा पुराने पापों की शुद्धि कर लेता है । शास्त्रकार फरमाते हैं--

जे कम्मे सूरा, ते धम्मे सूरा

जो कर्म करने में शूर है, वह धर्म के आचरण में भी शूर हो सकता है । अर्जुन माली ने निकाचित कर्मों के उदय से क्रूर कर्म किये परन्तु प्रभु का सम्पर्क पाते ही वह धर्म में

शूर हो गया। कर्मों के वन्धनों को तोड़ने में उसने शूरता प्रदर्शित की और इतनी सीमा तक शूरता दिखाई कि वह उसी भव में केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष में चला गया। वह सुदर्शन और प्रभु महावीर से भी पहले मुक्त हो गया। कितना वदल जाता है जीवन ! आप भी प्रयत्न करिये और अपने जीवन की धारा को अन्दर की ओर मोड़िये ! जीवन मंगलमय वन जाएगा।

पर्युषण पर्व चल रहे हैं। दो दिन के वाद संवत्सरी पर्व आने वाला है। अर्जुनमाली सरीखा व्यक्ति आपके सामने हो तो क्या आप उसे क्षमा प्रदान करेंगे ? हमें क्षमा प्रदान करने की और क्षमायाचना करने की क्षमता प्राप्त करनी है। संवत्सरी पर्व की सार्थकता इसी में है। यही इस पर्व का संदेश है। इसकी तैयारी इन पर्व-दिनों में करनी है। हृदय को शुद्ध वनाना है, चरित्र को उज्ज्वल करना है, वृत्तियों को अन्तर्मुखी वनाना है। वहिर्वृत्तियों से या भौतिकता के मोह से कभी कल्याण होने वाला नहीं है। सम्पत्ति नश्वर है। आज है तो कल नहीं। वह महत्त्वपूर्ण वस्तु नहीं है। महत्त्वपूर्ण है सदाचार, सद्व्यवहार, चरित्र-निष्ठा और अध्यात्म रमण। इस दृष्टि को लेकर चलेंगे तो आपका जीवन मंगलमय वन सकेगा।

देशनोक
७-९-७५

नाव तिराई बहता नीर मैं

श्री सुविधि जिनेश्वर वंदिये हो, वन्दत पाप पुलाय ।।
कष्ट कर्म नो राजवी हो, मोह प्रथम क्षय कीन ।
शुद्ध समकित चारित्र नो हो परम क्षायक गुण लीन ।।
ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी हो, अन्तराय कियो अन्त ।
ज्ञान, दर्शन, बल ये तिहूँ हो, प्रकट्या अनन्तानन्त ।।श्री सुवि.।।

नौवें तीर्थंकर प्रभु सुविधि जिनेश्वर के चरणों में वन्दन की उदात्त भावना के साथ कवि ने अपने भावों की कुसुमाञ्जलि समर्पित की है । सही अर्थों में जब प्रभु को वन्दन किया जाता है तो आत्मा की मलिनता धुल जाती है । आत्मा शुद्ध बनती है तो उसमें धर्म प्रतिष्ठापित होता है । दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है—

"धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ"

जैसे शुद्ध पात्र में रहा हुआ दूध विशेष रूप से गुणकारी होता है, उसकी शोभा में विशेष वृद्धि हो जाती है उसी तरह शुद्ध हृदय में धर्म की प्रतिष्ठा की जाती है तो वह विशेष महत्त्वपूर्ण हो जाती है । जैसे मणिरत्न अपने आपमें अनुपम प्रभा और आभा से सम्पन्न होता है किन्तु

जब वह स्वर्ण के साथ संयोजित होता है तो उसकी चमक-दमक कई गुणा बढ़ जाती है । उसी तरह शुद्ध हृदय में स्थापित किया हुआ धर्म अलौकिक गुणों से मण्डित हो जाता है । प्रभु को वन्दन करने से—प्रभु के चरणों में स्वय को समर्पित करने से चित्त शुद्ध होता है, मन में प्रसन्नता होती है, आत्मा में प्रसाद गुण की वृद्धि होती हैं । प्रभु की प्रार्थना से अलौकिक और अनुपम शान्ति का अनुभव होता है । जो शुद्ध हृदय से, एकाग्रचित्त से, तन्मय होकर प्रभु का स्मरण करता है--उसकी आत्मा कर्म-मैल से मुक्त हो जाती है । कवि ने इस प्रार्थना में यही भाव व्यक्त किये हैं कि आत्मा का मौलिक स्वरूप कर्मों के आवरण से आच्छन्न है और यदि प्रभु को सही अर्थों में वन्दन किया जाय तो कर्मों के आवरण छिन्नभिन्न हो सकते हैं और आत्मा के स्वाभाविक गुण-अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त-सुख और अनन्त वल--अभिव्यक्त हो सकते हैं ।

प्रवलतम प्रतिपक्षी :

जैसा कि पूर्व के प्रवचनों में कई वार प्रतिपादित किया जा चुका है कि आत्मा का प्रवलतम प्रतिपक्षी 'मोह' है । यही आठों कर्मों का राजा है । यही आत्मा के प्रधान गुण—सम्यक्त्व और चारित्र का मुख्य वाधक है । आत्मा को अपने स्वरूप से वंचित करने वाली और पुद्गलों में रमण कराने वाली मोह-कर्म की शक्ति ही तो है । मोह-कर्म के रहते हुए ही शेष ज्ञानावरणीय आदि कर्म हरे-भरे और शक्तिशाली रहते हैं । मोह के नष्ट होते ही अन्य घाती कर्म भी अन्तर्मुहूर्त में क्षीण हो जाते हैं । जैसे

मस्तक-सूची के प्रहत होते ही तालवृक्ष धराशायी हो जाता है उसी तरह मोह के क्षीण होते ही अन्य कर्म क्षीणप्राय हो जाते हैं । राजा के भाग जाने पर जैसे सेना भी भाग खड़ी होती है वैसे ही मोह राजा के परास्त होते ही अन्य कर्मों की सेना भी हार खाकर भाग जाती है।

ज्यों-ज्यों मोह के वन में दावानल लगती है त्यों-त्यों आत्मा के गुणरूपी पौधे हरे-भरे होते हैं । ज्योंही मोह की जड़ उखड़ जाती है त्योंही आत्मा को मोक्ष-रूपी फल की प्राप्ति होती है । इसी भाव को इस सुपरिचित दोहे में व्यक्त किया गया है :—

आगे-आगे दव वळे पीछे हरिया होय ।
वलिहारी उस वृक्ष की जड़ काट्यां भल होय ।

जव भवस्थिति परिपक्व होती है और आत्मा अपने प्रवल पुरुपार्थ से मोहकर्म को परास्त कर देता है, तव क्षायिक समकित और क्षायिक चरित्र की प्राप्ति होती है । मोह के क्षीण होते ही अन्तर्मुहूर्त काल में ज्ञानावरणीय-कर्म, दर्शनावरणीय-कर्म और अन्तराय-कर्म एक साथ क्षीण हो जाते हैं जिसके कारण आत्मा को अनन्त-ज्ञान, अनन्त-दर्शन और अनन्त वल-वीर्य की प्राप्ति हो जाती है । आत्मा की अन्य शक्तियां भी परिपूर्ण रूप ले लेती हैं । आत्मा रूपी कलानिधि की सम्पूर्ण कलाएं प्रकट हो जाती हैं, तव लोक-रूपी आकाश में आत्मा रूपी चन्द्रमा अपनी सम्पूर्ण ज्योत्स्ना के साथ उद्योत करने लगता है । आत्मा की यह विशुद्धि

और आत्म-विकास की यह पराकाष्ठा ही हम सब का लक्ष्य है। इसे प्राप्त करने के लिए ही सब प्रयत्न और साधनाएं की जाती हैं। हमारे सारे धार्मिक अनुष्ठानों और क्रिया-कलापों का यही अन्तिम लक्ष्य-बिन्दु है।

साधना क्या उधार का धंधा है ?

मानव का मस्तिष्क प्रत्यक्ष फल के लिए लालायित रहता है। वह प्रत्येक क्रिया का परिणाम प्रत्यक्ष देखना चाहता है। साधना का परिणाम भी वह चटपट और प्रत्यक्ष में प्राप्त करना चाहता है। वह उधार का धंधा पसन्द नहीं करता, वह रोकड़-नगद का धंधा चाहता है। उसके सामने यह प्रश्न खड़ा होता है कि आत्मोत्थान के लिए की जाने वाली साधनाओं का परिणाम इसी जन्म में मिलेगा या भवान्तर में ही मिलेगा ? यदि साधनाओं का फल परलोक में ही मिलता है तो वह उधार का धंधा है। यदि प्रत्यक्ष में उसका परिणाम प्राप्त नहीं होता तो उसके प्रति मानव का मस्तिष्क अभिप्रेरित नहीं होता। यह धारणा सही नहीं है कि साधनाओं का फल परलोक में ही मिलने वाला है। साधना उधार का धंधा नहीं है। वह नकद का व्यापार है। जितनी-जितनी और जिस-जिस रूप में साधना की जाती है उसका फल भी उतने ही अंशों में यहां प्राप्त होता है। जिस रूप में साधना की आराधना होती है उस रूप में उसका परिणाम भी यहां परिलक्षित होता है। साधना का सुफल यहां भी प्राप्त होता है और भवान्तर में भी उसकी परम्परा भव्य फलप्रदायिनी बनती है। जिसने साधना के द्वारा इस जीवन को रमणीय बनाया, वह भवान्तर में भी रमणीयता को प्राप्त करेगा।

तीर्थङ्कर देवों ने आत्मा के विकास के चवदह सोपान वताये है जिन्हें आगम की भाषा में गुणस्थान कहते हैं। आत्मा अपने लक्ष्य की ओर ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता जाता है त्यों-त्यों उसको उसकी साधना के सुफलों का प्रत्यक्ष में अनुभव होता जाता है। तेरहवें गुणस्थान में जब वह पहुंचता है तो उसे अनन्त-ज्ञान, अनन्त-दर्शन, अनन्य बल-वीर्य और क्षायिक चारित्र की प्राप्ति होती है, जिसका उल्लेख प्रार्थना की कड़ियों में किया गया है। चवदहवां गुणस्थान आत्मा की सर्वोत्कृष्ट विकसित अवस्था है जिसमें आत्मा परमात्म-स्वरूप बन जाता है, सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाता है। साधना का यह सुफल प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। इस मानव-शरीर से ही यह अवस्था प्राप्त की जा सकती है। अनन्त आत्माओं ने अतीत काल में इस मानव-भव से परम पद की प्राप्ति की है, वर्तमान में भी विदेहादि क्षेत्रों से कर रहे हैं और अनागत काल में भी परम पद प्राप्त करेंगे। अतः यह कहा जा सकता है कि साधना की आराधना उधार का धंधा नहीं अपितु नकद का व्यापार है।

'खणं जाणाहि पंडिए'

इस प्रकार की आध्यात्मिक आराधना का सुअवसर मानव-भव में ही प्राप्त होता है। अन्यत्र यह अवसर नहीं मिल सकता। इसीलिए संसार के सब तत्त्वज्ञानियों ने मानव-भव की महत्ता को एक स्वर से स्वीकार किया है। शास्त्रकारों ने कहा है—

'खणं जाणाहि पंडिए'

विवेकी पुरुष इस सुअवसर को पहचानें। शास्त्रकारों

का आशय यह है कि मनुष्यों को मानव-भव के रूप में आत्मकल्याण का स्वर्णिम अवसर प्राप्त हुआ है । इस सुअवसर को पहचान कर जो उसका सदुपयोग करता है वही पंडित है, वही विवेकी है, वही विचक्षण है ।

भगवान् आदिनाथ प्रभु ने (भरत द्वारा अपने ९८ भाइयों को उसके निर्देश में रहने की सूचना दिये जाने से अपमानित हुए) अपने ९८ पुत्रों को जो उद्बोधन दिया वह बड़ा हृदयग्राही और मर्मस्पर्शी है । सूत्र कृतांगसूत्र के द्वितीय 'वेयालिय' अध्ययन में इसका वर्णन है । आदिनाथ ऋषभदेव प्रभु फरमाते हैं :—

'संबुज्झह किं न बुज्झह, सम्बोही खलु पेच्च दुल्लहा ।
ण हूवणमन्ति राईओ, नो सुलहं पुणरावि जीविअं ।।'

'समझो ! क्यों नहीं समझते हो ? यह अपूर्व अवसर तुम्हें प्राप्त हुआ है । इस भव से अन्यत्र परलोक में ज्ञान की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है । यह मानव-भव पुनः प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है । अभी सहज ही तुम्हें यह प्राप्त है । इस प्राप्त सुअवसर से लाभ उठा लो । यदि यह अवसर हाथ से निकल गया तो फिर पछताना पड़ेगा । जो समय चला गया, वह पुनः लौट कर नहीं आता । बड़ा सुन्दर अवसर प्राप्त है, इससे लाभ उठाना तुम्हारे हाथ में है ।

मानव को प्राप्त हुए आत्मकल्याण के सुअवसर को प्रतिपादित करते हुए शास्त्रकार कहते हैं :—

भूतेषु जंगमत्वं तस्मिन् पञ्चेन्द्रियत्वमुत्कृष्टम् ।
तस्मादपि मानुष्यं मानुष्येऽप्यार्यदेशश्च ।। १ ।।

देशे कुलं प्रधानं कुले प्रधाने जातिरुत्कृष्टा ।
जातौ रूपसमृद्धी रूपे च वलं विशिष्टतमम् ॥२॥
भवति वले चायुष्कं प्रकृष्टमायुष्कतोऽपि विज्ञानम् ।
विज्ञाने सम्यक्त्वं, सम्यक्त्वे शीलसम्प्राप्तिः ॥ ३ ॥
एतत्पूर्वश्चायं समासतः मोक्षसाधनोपायः ।
तत्र च वहु सम्प्राप्तं भवद्भिरल्पञ्च सम्प्राप्यम् ॥४॥

अनन्त अतीतकाल में स्थावर के रूप में अपरिमित काल तक रहने के पश्चात् अनन्त पुण्यराशि के प्राग्भार से त्रस पर्याय की प्राप्ति होती है । त्रसत्त्व मिल जाने के पश्चात् भी पञ्चेन्द्रियत्व की प्राप्ति, तदनन्तर मनुष्यत्व, आर्यदेश, उत्तम-कुल, उत्कृष्ट जाति, सुन्दर रूप, समृद्धि, विशिष्टवल, दीर्घायु, ज्ञान, सम्यक्त्व (दर्शन) और चारित्र की प्राप्ति होना उत्त-रोत्तर सुदुर्लभ है । इन दुर्लभ सामग्रियों में से वहुत सी सामग्रियां सद्भाग्य से आपको मिली हुई हैं । थोड़ी ही सामग्री प्राप्त करना शेष है । अतएव विशेष पुरुषार्थ द्वारा उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए । संसार-समुद्र का वहुत सारा भाग पार किया जा चुका है । किनारा समीप ही है । अतएव अव प्रमाद करना उचित नहीं है । पूरी शक्ति के साथ छलांग लगाने की आवश्यकता है । प्राप्त सुदुर्लभ सामग्रियों की सफलता इसी में हैं, अन्यथा किनारे आई हुई नाव भी डूव सकती है । यदि प्रमाद का अवल-म्वन ले लिया तो इतनी दुर्गम-घाटियों को पार करने का परिश्रम व्यर्थ हो जायेगा । अतएव इस अवसर का अत्यन्त सावधानी के साथ लाभ लेना चाहिए ।

वैज्ञानिक मार्ग :

यह भलीभांति सिद्ध है कि आत्मा की समग्र उपलब्धियां मानव-भव में ही प्राप्त होती हैं। इसके छूट जाने के पश्चात् आत्मा का अवस्थान मात्र रहता है। वहां कोई नवीन उपलब्धि नहीं होती। इसलिए मानव-भव में प्राप्त मार्ग को वैज्ञानिक मार्ग की संज्ञा दी गई है। वैज्ञानिक मार्ग का तात्पर्य भौतिक विज्ञान के मार्ग से नहीं है। लेकिन भौतिक प्रयोगशालाओं में जैसे उपलब्धि प्रत्यक्ष की जाती है वैसे ही आध्यात्मिक जीवन की प्रयोगशाला में जो कुछ भी आन्तरिक उपलब्धियां साधक को प्राप्त होती हैं, उनको वह प्रत्यक्ष में देखता हुआ चला जाता है। भौतिक विज्ञान की उपलब्धियां बाह्य होती हैं अतएव अन्य व्यक्ति उन्हें देख सकते हैं, जबकि आध्यात्मिक जीवन की उपलब्धियां आन्तरिक होती हैं अतएव अन्य व्यक्ति उन्हें नहीं देख पाते। साधक स्वयंमेव उनका अनुभव करता चला जाता है। आध्यात्मिक शक्ति का स्वरूप ही इस ढग का है कि वह बाहर निकाल कर नहीं बताई जा सकती। बड़े से बड़ा विद्वान् अपनी विद्वत्ता के अनुभव को हथेली पर निकाल कर नहीं दिखा सकता। आध्यात्मिक जीवन की स्थिति भी ऐसी ही है। यदि मानव आध्यात्मिक जीवन को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करे और प्रारम्भ से ही अपनी साधना के सूत्र को सक्रिय बनावे तो कठिनाइयों के बावजूद वह एक दिन सफलता की भूमिका पर अवश्य पहुंच जाता है।

पुरुषार्थ बनाम नियतिवाद :

कभी-कभी इधर-उधर के विचारों को सुनकर मानव

वह सोचने लगता है कि जो होनहार है, वही होता है। मानव के प्रयत्न से कुछ नहीं होता। जैसा कि कहा गया है :—

प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयेण योऽर्थः
सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभो वा।
भूतानां महति कृतेऽपि हि यत्ने,
नाभाव्यं भवति न भाविनोऽस्ति नाशः॥

अर्थात्— नियति के द्वारा जो भी शुभ या अशुभ मनुष्यों को प्राप्त होने वाला होता है, वह अवश्य प्राप्त होता है। प्राणी के बहुत यत्न करने पर भी जो होनहार नहीं है, वह नहीं हो सकता। जो होनहार है, उसका नाश नहीं होता। और भी कहा है :—

नियतेन रूपेण सर्वे भावाः भवन्ति यत्।
ततो नियतिजा ह्येते तत्स्वरूपानुवेधतः॥
यद् यदेव यतो यावत्, तत्तदेव ततस्तथा।
नियतं जायते न्यायात् क एनां बाधितुं क्षमः॥

— शास्त्र वार्ता समुच्चय।

सब पदार्थ नियति के अधीन हैं। जो जिस समय, जिससे, जितना जिस रूप में होने वाला है, वह उस समय उससे, उतना और उसी रूप में अवश्य होता है।! नियति को बाधित करने में कोई समर्थ नहीं है।

नियतिवादियों का उक्त कथन एकपक्षीय होने से यथार्थ की भूमिका पर नहीं ठहर सकता। एकान्त नियति-

वाद को स्वीकार करने पर उत्थान, कर्म, वल-वीर्य पुरुप-कार पराक्रम रूप पुरुषार्थ का सर्वथा उच्छेद प्राप्त हो जाता है, जो अनिष्टापत्ति है। ऐसा न तो इष्ट ही है और न देखा ही जाता है। तिलों में तेल नियत है किन्तु पुरुषार्थ किये विना तिलों से तेल प्राप्त नहीं किया जा सकता। अत-एव एकान्त नियतिवाद की विचारधारा अप्रामाणिक है।

सर्वज्ञ सर्वदर्शी प्रभु महावीर ने नियतिवादी आजीविक गोशालक के मत का प्रवलता के साथ खण्डन करते हुए पुरुषार्थ की उपादेयता प्रतिपादित की है। उन्होंने प्ररूपित किया कि—

अत्थि उट्ठाणे इ वा, कम्मे इ वा, वले इ वा, वीरिए इ वा, पुरिसकार परक्कमे इ वा।'

उत्थान है, कर्म है, वल है, वीर्य है और पुरुषकार-पराक्रम है। पुरुषार्थ मुख्य कार्यसाधक अंग है।

नियतिवाद की विचारधारा मानवीय पुरुषार्थ में वाधक वनती है। इस विचारधारा का अनुसरण करने वाला व्यक्ति अकर्मण्य वन कर निठल्ला वैठा रहता है। वह परिश्रम करने से दिल चुराता है। हाथ पर हाथ धर कर चुपचाप वैठना पसन्द करता है।

'अजगर करे न चाकरी, पंछी करे न काम।
दास कवीरा कह गये, सवके दाता राम॥

इस प्रकार की भ्रांत धारणा के वशीभूत होकर मानव अकर्मण्य और पुरुषार्थ-हीन वन जाता है। वह किसी भी

क्षेत्र में कोई उल्लेखनीय प्रगति नहीं कर सकता है।

जीवन के किसी भी क्षेत्र में प्रगति करने हेतु नियतिवाद की भ्रान्त धारणा का परिमार्जन करना आवश्यक है। शास्त्रीय विधान के साथ ही साथ व्यावहारिक अनुभवों से भी इस अज्ञान एवं प्रमाद-मूलक धारणा का निवारण किया जा सकता है।

जीवन कोमल रुई के समान है। कुशल कलाकार अपने पुरुषार्थ से जैसे वस्त्र का निर्माण करना चाहता है वैसा उस रुई से बना लेता है। मिट्टी के मुलायम पिण्ड से कुम्भकार इच्छानुसार पात्रों का निर्माण कर लेता है। इसी तरह जीवन की प्रारम्भिक अवस्था में जैसे संस्कार और जैसा वातावरण मिलता है, उसी के अनुसार जीवन का निर्माण हुआ करता है। कोमल वय में पड़े हुए सुसंस्कार दिव्य-जीवन का निर्माण कर सकते हैं। कोमल लताओं को इच्छानुसार दिशा दी जा सकती है। कोमल बालकों के जीवन को चाहे जिस दिशा में मोडा जा सकता है। अतएव यदि उनके जीवन को भव्य और दिव्य बनाने की अभिलाषा हो तो उन्हें प्रारम्भ से ही भव्य और दिव्य संस्कार दिये जाने चाहिए। यदि आप अपने बालक को दिग्गज विद्वान् बनाना चाहते हैं तो प्रारम्भ से ही उसकी शिक्षा की ओर पर्याप्त ध्यान देना आवश्यक है। यदि आप उसे दिग्विजयी वीर बनाना चाहते हैं तो प्रारम्भ से ही उसके लिए व्यायाम आदि के संस्कार और साधन अपेक्षित होंगे। यदि आप अपनी सन्तति को आध्यात्मिक क्षेत्र की ओर अग्रसर करना चाहते हैं तो उसे बचपन से ही वैसे संस्कार देने होंगे। जीवन एक उम्र तक मोड़ ले सकता है।

उसके पश्चात् उसे मोड़ना कठिन और दुष्कर होता है।

मानव कभी-कभी कल्पना करता है कि कलियुग बड़ी विचित्र रीति से चल रहा है। इस समय कोई अवतारी पुरुष क्यों नहीं पैदा होता है जो अज्ञान की परम्परा को समाप्त करे ? यदि सचमुच किसी अवतारी पुरुष की आवश्यकता को आप महसूस करते हैं तो मैं यह स्पष्ट राय देना चाहूँगा कि अवतारी पुरुष यकायक आसमान से टपकने वाला नहीं है। इन बालकों में से ही कोई संस्कारी बालक अवतारी पुरुष की कोटि में पहुंच सकता है। शंकराचार्य और आचार्य हेमचन्द्र जैसे दिग्गज और समर्थ विद्वान् बाल्य-काल के संस्कारों के फलस्वरूप ही जगतीतल में प्रसिद्ध हुए हैं। अतएव बालकों के जीवन-निर्माण के प्रति सतर्कता और सावधानी रखने से अवश्य ही कोई ऐसी प्रतिभा उभर कर सामने आ सकती है जो अवतारी पुरुष का काम कर सके।

संस्कारों का महत्त्व :

कोमल वय में पड़े हुए सुसंस्कार और कुसंस्कार कितने प्रभावशाली होते हैं, इसको समझने के लिए एक उपयोगी रूपक इस प्रकार है :—

एक राजा घोड़े पर सवार होकर जंगल में हवाखाने की दृष्टि से निकला। घोड़ा पवनवेगी था। राजा जहां ठहरना चाहता था, वहां वह न थमकर वेग के साथ भाग कर संघन वन में पहुंच गया। राजा हैरान था। वह भूख प्यास से पीड़ित था। संत्रस्त होकर वह सोच रहा था कि

किसी स्थान पर विश्राम का संयोग जुड़ जाय । उस वीरान जंगल में कुछ झोपड़ियां नजर आईं । राजा को कुछ शांति का अनुभव होने लगा । झोपड़ियों में मानव का स्थान होना चाहिए । जैसे ही राजा वहां पहुंचा उसने एक तोते को वृक्ष की टहनी पर बैठे हुए देखा । तोते ने ज्योंही राजा को देखा वह जोर-जोर से चिल्लाने लगा--'लुट्यताम् लुट्-यताम्' । राजा संस्कृत भाषा जानता था, उसने समझ लिया कि यह तो किसी को लूटने की सूचना दे रहा है । यहां से बच निकलना चाहिए । राजा ने घोड़े को शीघ्र गति से आगे बढ़ाया ।

आगे बढ़ने पर राजा को कुछ और झोपड़ियां नजर आईं । राजा सोचने लगा कि यहां भी कहीं वही दशा न हो । ज्यों ही वह समीप आया, उसने वहां भी वृक्ष पर बैठा हुआ तोता देखा । राजा को देख कर तोता बोलने लगा—'स्वागतम्, सुस्वागतम्, आगम्यताम्' तोते की आवाज को सुन कर एक ऋषि कुटिया से बाहर आया और उसने राजा को आश्वस्त करते हुए कहा कि आप यहां विश्राम कीजिये । अन्न-जल ग्रहण कीजिये । मैं आपका स्वागत करता हूं । राजा वहां ठहर गया । उसने शांति का अनु-भव किया । परन्तु उसके मन में यह जिज्ञासा बलवती हो रही थी कि समान वन, समान झोपड़ियां और समान तोते होने पर भी दोनों की वाणी दो तरह क्यों है ? अपनी जिज्ञासा को शांत करने के लिए उसने ऋषि से पूछा कि 'ऋषिवर ! दोनों तोतों की वाणी में इतना अन्तर होने का क्या कारण है ?'

ऋषि ने उत्तर दिया, 'राजन् ! वह तोता लुटेरों

को संगति में रहा और लुटेरों ने उसे ऐसे ही संस्कार दिये। लुटेरे उससे गुप्तचर का काम लेते हैं। उसकी सूचना पाकर वे पथिकों को लूटते हैं। तुम सुज्ञ हो, अतएव वहां से बच निकले। यह तोता ऋषियों के सम्पर्क में रहता है, इसे सुन्दर संस्कार दिये जाते हैं। यही कारण है कि यह अपने यहां आये हुए का 'स्वागतम् सुस्वागतम्' कह कर स्वागत करता है।

राजा ने भी प्रत्यक्ष अनुभव कर लिया कि संस्कारों के आधार पर जीवन का निर्माण होता है। कोमल वय के बालकों को जैसे संस्कार मिलेंगे, उसी के अनुसार उनका जीवन बनेगा। अतएव यदि आप अपने बालकों को सुयोग्य बनाना चाहते हैं तो आपको इस विषय में सतर्क रहना होगा कि बालक कैसे संस्कार पा रहे हैं? उनके आसपास का वातावरण कैसा है? वे किसके संसर्ग में रहते हैं? आप उन्हें जैसा बनाना चाहते हैं, उसके अनुकूल वातावरण और साधन-सामग्री उन्हें उपलब्ध है क्या? कहीं वे अनिष्ट तत्त्वों के चंगुल में तो नहीं फंस रहे हैं? इन सब बातों पर ध्यान दिया जाना आवश्यक है, तभी बालकों के जीवन का सही-सही निर्माण हो सकता है।

अयवंता मुनिवर :—

पर्युषण पर्व के इन दिनों में अन्तगड सूत्र के माध्यम से अभी आपने अयवंता मुनिवर के सम्बन्ध में सुना है। इन बालमुनि को जीवन के उगते प्रभात में ही आध्यात्मिक विभूतियों का अलौकिक सम्पर्क प्राप्त हुआ, जिसके कारण उनकी जीवन-नौका संसार-सागर से पार हो गई। कोमल

वय के इस वालक को आरंभिक स्थिति में ही आध्यात्मिक संस्कार मिले जो उत्तरोत्तर विकसित होते गये। फलस्वरूप इसी भव में उन्होंने आत्मा की सर्वोच्च स्थिति को प्राप्त कर लिया। अयवंता मुनिवर का चरित्र, संस्कारों के महत्त्व को प्रतिपादित करने वाला ज्वलंत उदाहरण है। वालमुनि अयवंता ने न केवल वालसुलभ क्रीड़ा के कारण वर्षा के पानी में अपने पात्र की नौका ही तिराई अपितु उन्होंने अपनी जीवन-नौका भी संसार-सागर से पार करली। इसीलिए इस प्रसंग पर संतजन इस भजन की पंक्तियों का उच्चारण किया करते हैं :—

एवंता मुनिवर नाव तिराई वहता नीर में ।। टेर ।।
पोलासपुरी नगरी को राजा विजयसेन है नाम ।
श्री देवी अंगे ऊपन्या स रे एवंता कुमार रे ।।एवंता.।।

वालमुनि अयवंता ने वर्षा के वहते हुए पानी में अपना पात्र तैराया और कहने लगे—'मेरी नाव तिरी, मेरी नाव तिरी'। यद्यपि वालमुनि का यह कार्य संयम की मर्यादा के वाहर था परन्तु वचपन तो वचपन ही होता है। सरसरी तौर पर एवं स्थूल-दृष्टि से यह कार्य संयम के नियमों के प्रतिकूल लगता है परन्तु सूक्ष्मदर्शी अनन्त-ज्ञानी, सर्वज्ञ प्रभु महावीर ने इसे भावी सत्य के रूप में निरूपित किया। उन्होंने कहा—'यह संसार एक प्रवाह है। उसमें संसारवर्ती जीव वह रहे हैं। यह वालमुनि चरम-शरीरी जीव है। इसके मुख से भावी सत्य प्रकट हुआ है। इसकी नाव सचमुच तिर गई है। यह इस दुस्तर संसार-प्रवाह को तैरने वाला है।'

उक्त प्रसंग अन्तगड सूत्र में वर्णित नहीं है किन्तु भगवती सूत्र में इसका उल्लेख है । अन्तगड में केवल उनकी बालवय का उल्लेख है । शास्त्रीय सन्दर्भों से विदित होता है कि प्राचीन काल में आठ वर्ष का हो जाने के बाद ही बालक को शिक्षा-दीक्षा के योग्य माना जाता था। आज तो स्थिति बदली हुई है। वर्तमान शिक्षा-पद्धति और उसके नियमोपनियमों के कारण आजकल बच्चों को स्कूल भेजने में बहुत शीघ्रता की जाती है । बच्चा ४-५ वर्ष का हुआ कि उसे स्कूल भेजने की शीघ्रता माता-पिता करते हैं । वे सम्भवतः यह सोचते हैं कि बच्चा जल्दी लिख-पढ़ कर होशियार बन जाय और धन कमाने लगे ।

कोमल मस्तिष्क पर शिक्षा का भार :

प्राचीन काल के सुज्ञ शिक्षक एवं संरक्षक बालक के हित की दृष्टि से व्यवस्था करते थे । बालक के मस्तिष्क के कोमल तन्तु अध्ययन करने में सक्षम न बन जांय तब तक वे बालक पर शिक्षा का भार नहीं डालते थे । योग्य वय में, योग्य समय पर किया गया कार्य फलीभूत हुआ करता है । अपरिपक्व स्थिति में डाला गया भार प्रतिभा को कुण्ठित कर देता है । यह स्मरण रखना चाहिए कि जिसका प्रारम्भ सुधर जाता है उसका अगला जीवन भी सुधर जाता है । जिसका प्रारम्भ बिगड़ जाता है उसकी सारी जिन्दगी बिगड़ जाती है । हलुवे की चासनी प्रारम्भ में बिगड़ गई तो हलुवा बिगड़ जायेगा । वैसे ही जीवन की चासनी आरम्भ में बिगड़ गई तो पूरी जिन्दगी बिगड़ जाती है । अतएव आरम्भिक अवस्था में विशेष ध्यान देना चाहिए ।

प्राचीन काल में मनोवैज्ञानिक आधार पर शिक्षा दी जाती थी । शिक्षा का उद्देश्य जीवन को संस्कारी बनाना होता था, धनोपार्जन का नहीं । आज के युग में धन की लालसा के कारण विचित्र दशा बन रही है । आज के बालक धन कमाने की मशीन जल्दी से जल्दी कैसे बनें, इसी भावना से उन्हें कोमल वय में स्कूलों में प्रविष्ट कराया जाता है । वहां उन पर इतना भार लाद दिया जाता है कि उनका कोमल मस्तिष्क क्षत-विक्षत हो जाता है । कोमल वय में अधिक भार डालना उनके जीवन को दबोचना है । माता-पिता को इस विषय में गम्भीरता से सोचना चाहिए ।

अयवन्ता कुमार ८ वर्ष की वय में पहुंच चुका था तदपि उसे स्कूल में प्रविष्ट नहीं कराया गया था । वह छोटे बालकों के साथ खेल रहा था । उसकी सहज बुद्धि तीक्ष्ण थी । उसको बचपन में कैसे संस्कार मिले तथा पूर्व-भव के संस्कार क्या काम करते हैं, निमित्त पाकर वह कैसे चमक गया, इसी विषय पर कुछ विशेष प्रकाश डालना चाहता हूँ ।

बेले बेले करे पारणां, गणधर पदवी पाया ।
भगवंता की आज्ञा लेकर गौतम गोचरी आया रे,
अयवन्ता मुनिवर नाव तिराई बहता नीर में ।।

प्रभु महावीर राजकुल में जन्म लेकर भी समग्र मानव जाति का कल्याण करने के लिए निर्ग्रन्थ श्रमण और दीर्घ तपस्वी बने । उन्होंने परिपूर्ण केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त कर चतुर्विध संघ की स्थापना की और भव्यजनों को मोक्ष

का मार्ग बताया । उस समय प्रभु महावीर पोलासपुर नगर के वगीचे में पधारे हुए थे । उनके प्रमुख शिष्य गौतम गणधर वड़े प्रतिभाशाली विद्वान् थे । वे जाति के ब्राह्मण थे, वेदों के पारगामी ज्ञाता थे परन्तु प्रभु महावीर के उपदेश से प्रभावित होकर वे उनके शिष्य वन गये थे । वे अपनी प्रखर प्रतिभा के कारण प्रभु महावीर के दिव्य संदेश को साकार रूप देकर चल रहे थे । साधु-जीवन की परम उत्कृष्ट साधना के साथ भिक्षावृत्ति के लिए वे स्वयं पधारते थे । उन्होंने प्रभु से विधिवत् आज्ञा ली और भिक्षा के लिए वे नगर में पधारे । संयोगवश वे उसी स्थान पर पधारे जहां वे बालक खेल रहे थे ।

खेल रहा था खेल कुंवर जी देख्या गौतम कुमार ।
घर घर मांहि फिरे हिंडता, पूछे इतरी वात हो,
अयवन्ता मुनिवर नाव तिराई वहता नीर में ।।

संयमी जीवन के भव्य गुणों से परिपूर्ण गौतम गणधर समभाव के साथ यतनापूर्वक दृष्टिपूत मार्ग पर चले आ रहे थे । एक हाथ में झोली दूसरे हाथ में रजोहरण धारण करते हुए वे भिक्षा के लिए कभी किसी घर में और कभी अन्य घर में प्रवेश करते थे । बालकों की टोली क्रीड़ा में लगी हुई थी । उस मार्ग से सैकड़ों व्यक्ति आते-जाते रहे होंगे किन्तु उनकी तरफ उन बालकों का ध्यान नहीं गया । बच्चों को खेल बहुत प्रिय होता है । वे खेल छोड़ना पसन्द नहीं करते । खाना-पीना छोड़ देंगे परन्तु खेल नहीं छोड़ेगे । लेकिन संयोग से या पूर्व-संस्कारों के कारण अयवन्ताकुमार के मन में गौतम गणधर को देखकर अनूठे

ही भाव जागृत हुए । वह खेल से अलग हट कर गौतम-स्वामी के सम्मुख आया और उनसे बातें करने लगा। लोकोक्ति है कि पूत के पांव पालने में दृष्टिगत होते हैं। बड़े-बड़े व्यक्ति महात्माओं से बात करने में संकोच का अनुभव करते हैं परन्तु वह छोटा बालक निस्संकोच होकर गौतम गणधर से बाल-सुलभ उत्सुकता से प्रेरित होकर वार्तालाप करने लगा।

अयवन्त-गौतम - संवाद :

अयवन्ता कुमार ने गौतम गणधर से पूछा – 'आप कौन हैं ? कहां जा रहे हैं ? घर–घर क्यों घूम रहे हैं ?'

श्री गौतम स्वामी विशिष्ट ज्ञानी थे । वे अनुभवी और विचक्षण थे । छोटे बालक के मुख से ऐसे प्रश्न सुन-कर वे गद्गद् हो गये । उन्होंने जान लिया कि यह बालक संस्कार–सम्पन्न और होनहार है । उन्होंने कहा, 'कुमार ! हम साधु हैं । भिक्षा के लिए परिभ्रमण कर रहे हैं । हम अपने लिए भोजन बनाते नहीं । हमारे लिए कोई भोजन बना कर दे तो हम लेते नहीं । लोग अपने घरों में अपने लिए जो भोजन बनाते हैं उसी में से थोड़ा–थोड़ा बिना किसी को कष्ट पहुंचाये हम ग्रहण करते हैं । इसलिए हम एक घर से दूसरे घर भिक्षा के लिए भ्रमण करते हैं । '

अयवन्तकुमार—'यदि ऐसा है तो चलिये मेरे साथ । मैं आपको भोजन दिलाता हूं ।' ऐसा कह कर उसने गौतम स्वामी की अंगुली पकड़ ली और उन्हें अपने आवास की ओर चलने का आग्रह करने लगा ।

गौतम स्वामी ने उसे कहा कि अंगुली छोड़ दो। परन्तु बालक क्या समझे मुनि की मर्यादा और उनके कल्प को ? संतों के चरणों में नमस्कार किया जा सकता है किन्तु उनके अन्य अंगों को छूना नहीं चाहिए । संत भी गृहस्थ के किसी अंग को नहीं छूते। शास्त्र में इसका सुन्दर निरूपण किया गया है।

अयवंताकुमार गौतम स्वामी के साथ अपने आवास की ओर बढ़ रहा था । उधर उस अनूठे लाल को जन्म देने वाली माता भोजन का समय हो जाने से अपने लाल की प्रतीक्षा कर रही थी । उसकी दृष्टि दरवाजे की ओर लगी हुई थी । सहसा उसने देखा कि अयवंता कुमार एक महात्मा के साथ चला आ रहा है । महारानी बहुत प्रसन्न हुई । महारानी होते हुए भी उसके दिल में संतों के प्रति अति आदर और सद्भाव था । तुच्छ प्रकृति के व्यक्ति वैभव पाकर इतने उन्मत्त हो जाते हैं कि वे संतों के महत्त्व को नहीं समझते। इतना ही नहीं, वे अन्य व्यक्तियों के प्रति भी भद्र व्यवहार नहीं करते ।

संत कल्पतरु हैं :

अयवंताकुमार की माता महारानी श्रीदेवी यह जानती थी कि संत संसार के समस्त पदार्थो का परित्याग करके चलते हैं । वे कनक और कामिनी के त्यागी होते हैं । वे कल्पतरु के तुल्य हैं । जिसके घर पर ऐसे जंगम कल्पतरु का पदार्पण होता है, वह घर धन्य बन जाता है, उसके जीवन का अभ्युदय होने लगता है । मेरे घर पर आज

संत-महात्मा पधार रहे हैं, मेरा लाल उन्हें साथ लेकर आ रहा है, यह कितने सौभाग्य की बात है। वह बोल उठती है :—

अहो वालुडा महा पुण्यवंता भली जहाज घर लाई।
हर्ष भाव से हाथों से वहरावे अन्न और पानी जी ।।
अयवंता मुनिवर नाव तिराइ वहता नीर में ।।

माता कहने लगी—'अहो वालुड़ा! तुमने वहुत अच्छा काम किया। तुमने असीम पुण्य का संचय किया। तुम्हारा और हमारा अहोभाग्य है जो ऐसे तरण-तारण जहाज को घर ले आया। तुम्हारा जन्म सफल हुआ।'

माता को हर्षित जान कर कुमार भी फूला नहीं समाया। उसे अनुभव हुआ कि मैं अच्छा काम करके आया हूं। माता की अनुमोदना से वालक का उत्साह द्विगुणित हो जाता है। माता ने गौतम स्वामी को भावना के साथ वन्दन किया और भोजनगृह में ले जाकर निर्दोप अन्न-जल भक्तिपूर्वक वहराया। मुनि निर्दोप भिक्षा ग्रहण कर वहां से निकल पड़े। महारानी ने पुनः उन्हें वन्दन किया और कुछ दूरी तक उन्हें पहुंचाने आई। कुमार भी गौतम स्वामी के साथ जाने लगा।

लारे लारे चाल्यो वालूड़ो देख्या भाग्य सौभाग्य।
भगवंता की वाणी सुन नै मन आयो वैराग्य जी ।।
अयवंता मुनिवर नाव तिराई वहता नीर में ।।

अयवंता कुमार की भावना का वेग तीव्र गति से वढ़

रहा था । माता द्वार तक पहुंचाने जाती है । किन्तु कुमार उन संत-महात्मा के साथ आगे बढ़ता जा रहा है । माता को ज्ञात था कि उसका लाल भूखा है, वह खेल में रम रहा था, भोजन का समय है फिर भी वह महात्मा के साथ जा रहा है । माता ने उसको रोकने की कोशिश नहीं की । वह जानती थी कि वचपन में ऐसे संस्कार पुण्य की प्रवलता से ही मिलते हैं।

गौतम स्वामी के साथ अयवंता कुमार प्रभु महावीर के समीप पहुंचा । गौतम स्वामी का अनुकरण करते हुए उसने भी प्रभु महावीर को नमस्कार किया । वह हाथ जोड़ कर प्रभु के सामने बैठ गया । प्रभु सर्वज्ञ-सर्वदर्शी थे। उन्होंने कुमार के भविष्य को जान लिया था । उस होनहार कुमार ने प्रभु से प्रार्थना की कि—'भगवन्! मुझे उपदेश सुनाइये ।'

आप कल्पना करते होंगे कि आठ वर्ग का बालक उपदेश में क्या समझता होगा ? उसमें धर्मोपदेश की जिज्ञासा कैसे हो सकती है ? सर्वज्ञ-सर्वदर्शी प्रभु महावीर जैसे सर्वोत्कृष्ट ज्ञानी ने आठ वर्ष के कुमार को क्या उपदेश दिया होगा ? उत्तर में मैं कहना चाहूँगा कि जो बातें हमें सामान्य से विलक्षण प्रतीत होती हैं वे पूर्व के प्रवल संस्कारों की प्रतीति कराती हैं । पूर्व के संस्कार वहुत प्रवल होते हैं । वे निमित्त पाकर जव जागृत होते हैं तो उनमें सामान्य वातों से विलक्षणता और विचित्रता दृष्टिगोचर होती है । कई छोटे वालकों में पाई जाने वाली अद्भुत प्रतिभा इस वात का प्रमाण है । कई वालकों में वयस्कों की अपेक्षा विशेष

जिज्ञासा दृष्टिगोचर होती है । कई वार मैं देखता हूं कि जव तात्त्विक गहराई की वात की जाती है तव कई वयस्क नींद लेने लगते हैं लेकिन वालक एकाग्र मन से उसे सुनने-समझने का प्रयत्न करते हैं । यह पूर्व संस्कार और भावी होनहार का परिणाम समझना चाहिए । अयवंता कुमार के पूर्व संस्कार और उसके उज्ज्वल होनहार के कारण उसे ऐसी तत्त्व-जिज्ञासा होना संभावित है ।

उपदेष्टा समदृष्टा होता :

हितोपदेशक वीतराग देव समदर्शी होते हैं । वे सवको समान रूप से हितोपदेश सुनाते हैं । वे आशंसारहित होते हैं अतएव जिस भावना से सम्राट् चक्रवर्ती राजा और श्रीमन्तों को उपदेश देते हैं उसी भावना से तुच्छ, दीन-हीन अनाथ को भी धर्मोपदेश प्रदान करते हैं । उनके यहां सम्पन्न-विपन्न का भेद नहीं होता, स्त्री-पुरुष का भेद नहीं होता, वाल, युवा, वृद्ध का भेद नहीं होता गुणी-अगुणी का भेद नहीं होता, पुण्यशाली या पुण्यहीन का भेद नहीं होता । वे सवको एकान्त हितकारी उपदेश समभाव से प्रदान करते हैं । आगम में कहा है—

'जहा पुण्णस्स कत्थइ तहा तुच्छस्स कत्थइ ।
जहा तुच्छस्स कत्थइ तहा पुण्णस्स कत्थइ ।।'

— आचारांग सूत्र ।

उपदेष्टा अनुग्रह वुद्धि से जैसे पुण्यशाली सत्ता-सम्पन्न को उपदेश देते हैं वैसे ही तुच्छ-रंक को भी उपदेश देते हैं ।

इसी हितकर बुद्धि से प्रभु महावीर ने अयवंता कुमार को सामयिक एवं बाल-बुद्धिगम्य उपदेश प्रदान किया।

प्रभु महावीर की वाणी ने कोमल-हृदय अयवंता कुमार के निर्मल हृदय पर चमत्कारिक प्रभाव डाला। वह कहने लगा–'प्रभो! मैं अपने जीवन-निर्माण की दृष्टि से आपके चरणों में उपस्थित होना चाहता हूँ। मैं आपके चरणों की शरण में आकर अनगार बनना चाहा हूँ।' प्रभु ने कहा–'जहा सुहं देवाणुप्पिया।' (जैसा सुख हो वैसा करो।'

माता-पुत्र संवाद :

अयवंता कुमार वहां से लौट कर अपनी माता के पास आया। वह बहुत प्रसन्न और उल्लसित हो रहा था। उसने माता से कहा–'माता! मैंने प्रभु महावीर के दर्शन किये।'

माता– लाल! तुम्हारे नेत्र पवित्र हुए। तुम धन्य हो गये।

कुमार– माता! मैंने प्रभु की वाणी-सुधा का पान किया।

माता– लाल! तुम्हारे कान पवित्र हो गए। वीत-राग-वाणी का श्रवण करना बड़ा दुर्लभ है।

कुमार– माताजी! मैंने प्रभु की वाणी को हृदय में धारण किया।

माता– लाल! तुम्हारा हृदय निर्मल वन गया। तुम्हारा जीवन धन्य हो गया।

कुमार— माता ! मैं प्रभु की वाणी को हृदय तक ही नहीं रखना चाहता । उसे क्रियान्वित भी करना चाहता हूँ ।

माता— लाल ! यह तो बहुत ही उत्तम है । अपने घर में सब साधन हैं । जो भी नेक और शुभ कार्य तुम करना चाहो, खुशी से करो ।

कुमार— माता ! मैं घर-बार छोड़ कर अनगार बनना चाहता हूँ ।

यह सुन कर माता को हंसी आ गई । यदि अन्य कोई माता होती तो उसकी दशा अन्य ही प्रकार की होती । माता ने कहा :—

तू कांई जाणे साधुपणा में बाल अवस्था थारी,
उत्तर दीधो ऐसो कंवर जीं, मात कहे बलिहारी जो ।
एवंता मुनिवर नाव तिराई बहता नीर में ।।

हे लाल ! तू साधुपने को क्या समझता है ? तेरी अवस्था बहुत छोटी है । साधुपना बच्चों का खेल नहीं है । तेरी खेलने की अवस्था है । अतएव खेलो और आनन्द से रहो ।

कुमार— माता ! मैंने प्रभु के मुखारविन्द से संसार का सार जान लिया है ।

'जं चेव जाणामि तं चेव नो जाणामि'

(मैं कुछ जानता भी हूँ और कुछ नहीं भी जानता हूँ ।)

माता-- लाल ! यह क्या पहेली बुझा रहे हो ?

कुमार – माता ! मैं यह जानता हूं कि मानव-मात्र मरने वाला है । जिसने जन्म लिया है, वह मरेगा । लेकिन कब मरेगा, कैसे मरेगा, यह मैं नहीं जानता । यह आत्मा किस गति में जाएगा, यह मैं नहीं जानता लेकिन इतना जानता हूँ कि जीव अपने शुभाशुभ कर्मों से चतुर्गति रूप संसार में भ्रमण करता है । माता ! जीवन का भरोसा नहीं है । कौन जानता है कि पहले कौन मरेगा ? पीछे कौन मरेगा ? इसलिए मैं आपकी आज्ञा लेकर अनगार बनना चाहता हूँ ताकि मृत्यु पर विजय पा सकूं ।

माता— लाल ! तुमने जीवन का मक्खन पा लिया। तत्त्वज्ञान का मर्म पहचान लिया परन्तु अनगार बनने योग्य तुम्हारी अवस्था नहीं है । परिपक्व स्थिति आने पर उचित काल में तुम अपने संकल्प को कार्यरूप दे सकते हो । अभी वह अवसर नहीं है ।

इस प्रकार माता ने अयवंता कुमार को समझाने का वहुत प्रयास किया किन्तु कुमार अपने संकल्प पर अटल और अविचल रहा । उसे प्रलोभन दिया गया । राजसिंहासन पर आसीन किया गया । सिंहासन पर आरूढ़ होकर भी उसने कहा—'मैं अव राजाओं का राजा हूँ । मेरी आज्ञा है कि श्री भंडार से तीन लाख सोनैया निकाल कर संयम के उपकरण मंगवाइये और मेरी दीक्षा-विधि सम्पन्न करिये ।'

अन्ततोगत्वा माता-पिता ने अपने कलेजे के टुकड़े को प्रभु के चरणों में समर्पित किया और कहा—' भंते ! यह

है परन्तु मानव-तन के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी परम विश्राम की विधि उसे सुलभ नहीं है । आत्मविकास का मानव जीवन के साथ महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। जितना भी विकास दृष्टिगत होता है—चाहे वह भौतिक क्षेत्र में हो अथवा आध्यात्मिक क्षेत्र में, वह मानव-तन से ही सम्भव हो सका है । अन्य जीवनों में विकास का यह अवसर नहीं है । ऐसा सुन्दरतम मानव-जीवन जिन्हें उपलब्ध है, वे इस सम्बन्ध में समग्र दृष्टिकोण से सोचें कि किस प्रकार वे अपने जीवन का सर्वोच्च विकास उपलब्ध कर सकते हैं !

शान्ति की दुर्लभता :

आज विश्व में भौतिक विज्ञान का विस्तार हो रहा है । नित्य नवीन नवीन भौतिक सुख-सुविधाओं के साधन उपलब्ध हो रहे हैं । यातायात के साधन इतने तीव्रगामी और दूरगामी हैं कि दुनिया की दूरी दूर होती जा रही है, वह सिमटती जा रही है । विश्व के एक छोर से दूसरे छोर पर अल्प समय में ही पहुंचा जा सकता है, एक स्थान की वस्तुएं आसानी से सर्वत्र उपलब्ध हो सकती हैं। दूर-दूर के शब्दों का आदान-प्रदान कुछ ही क्षणों में हो सकता है। ये सब उपलब्धियां भौतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं परन्तु इन सब के बावजूद शान्ति सुलभ नहीं हुई है । ज्यों-ज्यों सुख-सुविधा के भौतिक साधन उपलब्ध होते जा रहे हैं त्यों-त्यों शान्ति विलुप्त होती जा रही है । साधनों की वृद्धि के साथ-साथ अशान्ति की वृद्धि होती जा रही है। दुनिया की दूरी मिटने के साथ ही साथ दिलों की दूरी बढ़ती चली

जा रही है । इसका अर्थ यह है कि भौतिक साधनों की अभिवृद्धि शान्ति की विधि नहीं है । शान्ति की विधि तो वही है, जो सुविधिनाथ परमात्मा ने बताई है ।

आप और हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि जिनके पास भौतिक साधनों की जितनी अधिक विपुलता है, वे उतने ही अधिक अशान्ति की आग से जल रहे हैं तो स्पष्ट ही यह ज्ञान होना चाहिए कि शान्ति का यह मार्ग नहीं है जिस पर न केवल दुनिया चल ही रही है अपितु दौड़ रही है । शान्ति का कोई दूसरा ही रास्ता है । जब यह प्रतीत हो जाय कि शान्ति की मंजिल पर पहुंचने के लिए हमने जो मार्ग अपनाया है, वह गलत है तो समझदारी और विवेक का तकाजा है कि हम उस मार्ग को तत्काल छोड़ दें और सही मार्ग की खोज करें, अन्यथा हम शान्ति की मंजिल तक कभी नहीं पहुंच पाएंगे । भौतिक साधनों को जुटा कर देख लिया कि इनमें कहीं शान्ति का नामोनिशान नहीं है अपितु ये तो शान्ति को चौपट करने वाले हैं तो अपनी गलत दिशा को छोड़ दीजिये और सही दिशा की ओर मुड़ जाइये । वह सही दिशा है—प्रभु सुविधिनाथ की बताई हुई आध्यात्मिक सुविधि । इस आध्यात्मिक सुविधि का अनुसरण करने से ही आत्मा शान्ति का आनन्द पा सकता है ।

पावन प्रसंग : पर्युषण :

आप सब शान्ति पाना चाहते हैं । शान्ति के साधन जुटाना चाहते हैं । बाह्य साधनों को जुटाने के प्रयास में इतना समय निकल गया, आयु का बहुत-सा भाग चला गया किन्तु शान्ति के दर्शन हुए क्या ? शान्ति की एक

किरण भी प्रस्फुटित हुई हो तो बताइये ? तो आइये, बाहर से दृष्टि हटाइये, सुविधिनाथ परमात्मा के गुण गाइये, उनकी बताई हुई विधि पर कदम बढ़ाइये और शाश्वत शान्ति का आनन्द पाइये !

शान्ति के शाश्वत मार्ग को प्रशस्त करने के लिए पर्युषण का पावन प्रसंग उपस्थित है । जिन आत्माओं ने अपने अन्तर स्वरूप को समझा है, जिन्होंने संसार को समग्र रूप से जान लिया है, जिनसे विश्व का कोई भी अंश छिपा हुआ नहीं है, ऐसे सर्वज्ञ सर्वदर्शी परमात्मा ने जगत् के जीवों के कल्याण के लिए इस पर्व का निरूपण किया है। यह पर्व शान्ति का संदेश-वाहक है, विश्व के आंगन में समता का विस्तारक है, सुख का संचारक है, पाप के ताप का निवारक है, भवोदधि-तारक है और जग जीवों का उद्धारक है । कषाय की आग को शान्त करने के लिए यह पानी है, वैर-विरोध की गर्मी को प्रशान्त करने हेतु यह मेघ की धारा है, मन की मलिनता को धोने के लिए यह गगा जल है, विषयों के विष-विकारों को हटाने के लिए यह अमृत है, मोहान्धकार को मिटाने के लिए यह सूर्य हैं, आध्यात्मिक दीनता को दूर करने के लिए चिन्तामणि है और मुक्ति रूपी फल के लिए कल्पवृक्ष है ।

यह पर्युषण पर्व आत्मा का पर्व है । किसी समाज जाति या वर्ग विशेष का न होकर यह व्यापक और सार्व-भौम है । सूर्य सबको प्रकाश देता है । वह सारे विश्व का है । चन्द्र सबको शीतल उद्योत प्रदान करता है । वह किसी खास वर्ग का नहीं है । पृथ्वी सबके लिए आधारभूत है ।

इसी तरह यह पर्व भी सबके लिए मंगलकारी है। इसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र का कोई विभाग नहीं है। राजा या रंक, निर्धन या सम्पन्न, मालिक या मजदूर, स्त्री या पुरुष, युवक या वृद्ध, जनता या नेता प्रत्येक व्यक्ति इस पर्व की आराधना का अधिकारी है। जैन समाज ही इस पर्व की आराधना का एक मात्र ठेकेदार या लाइसेंस होल्डर नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति जो आत्म-संशोधन करने की अभिलाषा रखता है, जो अपने मन की मलिनता को धोना चाहता है, जो अपनी अन्तर-चेतना को जागृत करना चाहता है, उसके लिए यह पर्व एक स्वर्णिम अवसर है। कौन नहीं चाहता है कि उसकी आत्मा निर्मल बने। कौन व्यक्ति मन में मैल को जमा रखना चाहता है ? सब मैल को धोना चाहते हैं। अतएव इस शुद्धि पर्व में सबको सम्मिलित होना चाहिए। आध्यात्मिक शुद्धि के इस पावन पर्व पर प्रत्येक व्यक्ति को अपने मन का मैल साफ कर लेना चाहिए और इसकी शीतल जलधारा से पाप के ताप को शान्त कर लेना चाहिए।

काल की अनुकूलता :

जैन सिद्धान्त में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का स्थान स्थान पर निरूपण है। प्रत्येक कार्य में इन सब की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। पर्युषण के काल निर्धारण में भी उन महामनीषी परम ज्ञानी आप्त पुरुषों की सूक्ष्मदर्शिता परिलक्षित होती है। वर्षावास का समय निवृत्ति की उपासना के लिए अन्यकाल की अपेक्षा विशेष अनुकूल होता है। कृषक व्यापारी अधिकारी आदि सभी वर्गों के लिए यह स...

धर्माराधन के लिए विशेष सुविधाजनक है। अतएव भाद्रपद मास में यह पवित्र पर्व निर्धारित हुआ।

चातुर्मास कल्प :

शास्त्रीय मर्यादानुसार जैन मुनियों के कल्पों का विधान किया गया है। उनमें चातुर्मास कल्प एक महत्त्वपूर्ण कल्प है। शास्त्र में निर्दिष्ट है कि मुनि वर्ष के आठ मासों में संयम और तप से आत्मा को भावित करता हुआ ग्रामानुग्राम विचरण करे। जैसे बहता हुआ पानी निर्मल होता है उसी तरह विचरण करता हुआ मुनि भी अनासक्त, अप्रतिबद्ध और निर्ममत्व होने के कारण निर्मल बना रहता है। अधिक समय तक एक स्थान पर रहने से ममत्व पैदा होने की संभावना रहती है। उसको टालने के लिए मुनि को अप्रतिबद्ध विहारी होना चाहिए। जिस संयम की साधना और रक्षा हेतु शेषकाल में विहार की अनुज्ञा है उसी संयम की साधना और रक्षा हेतु ही चातुर्मास काल में एक स्थान पर रहने की अनुज्ञा है। जीवोत्पत्ति विशेष होने के कारण गमनागमन द्वारा उनकी विराधना टालने के लिए चातुर्मास कल्प में मुनियों को एक स्थान पर रहने का शास्त्रीय निर्देश है। इसी कल्पानुसार हम देशनोक में स्थित है।

इस कल्प का उद्देश्य मुनियों की आत्मसाधना तो है ही परन्तु इसके साथ ही संघ, तीर्थ, समाज और सर्वसाधारण के कल्याण की भावना भी इसमें सन्निहित है। मुनि जहां चातुर्मास करे, वहां की जनता को धर्माराधन की प्रेरणा करता रहे। सर्वसाधारण जनता को अवलम्बन की

आवश्यकता होती है। मुनियों के अवलम्बन से जनता में धार्मिक भावनाएं जागृत होती हैं, धर्म के प्रति रुचि उत्पन्न होती है और उनकी प्रेरणा से जनता का नैतिक और आत्मिक धरातल समुन्नत होता है। प्रभु महावीर की शासन व्यवस्था बहुत ही उत्तम कोटि की है। इसमें व्यक्तिगत कल्याण के साथ ही साथ समष्टि का कल्याण भी सन्निहित है। इसी दृष्टिकोण से चातुर्मास-कल्प जहां मुनियों के लिए आत्मकल्याण का साधक है, वहीं संघ एवं समाज के लिए भी अत्यन्त हितावह और कल्याणकारी है। साधु-संत आत्म कल्याण के साथ ही सर्वसाधारण को बिना किसी भेदभाव के आशंसा रहित होकर एकान्त परमार्थ दृष्टि से उपदेश देकर उनके जीवन को संस्कारित और प्रकाशित करने का प्रयत्न करते हैं। वे स्वयं भी संयम मार्ग की आराधना करते हैं और अन्य को भी संयम के मार्ग पर चलने की प्रेरणा करते हैं।

पर्व का इतिहास :

इसी दृष्टिकोण को लेकर आप और हम आज संवत्सरी पर्व की आराधना हेतु यहां एकत्रित हैं। यह पर्व सनातन काल से मनाया जाता रहा है। इसका इतिहास कुछ वर्षों या शताब्दियों का नहीं है अपितु अतीत की अनन्त गहराइयों से जुड़ा हुआ है। इस अवसर्पिणी काल में चौवीस तीर्थङ्कर हुए हैं। उनमें प्रभु महावीर चरम तीर्थंकर हैं। पूर्व के तीर्थंकरों ने जो प्रतिपादित और आचरित किया, वही प्रभु महावीर ने भी प्ररूपित और व्यवहृत किया क्योंकि सभी तीर्थंकरों की मौलिक प्ररूपणा एक समान होती है।

सर्वज्ञ-सर्वदर्शी तीर्थंकरों के ज्ञान में कोई अन्तर नहीं होता। पूर्व के तीर्थंकरों के उपदेश और आचारों का प्रतिबिम्ब हमें प्रभु महावीर में संक्रात होता हुआ दृष्टिगत होता है। समवायांग सूत्र में कहा गया है:—

समणे भगवं महावीरे वासाणं सवीसइराए मासे वइक्कंते।
सत्तरिएहिं राइंदिएहिं सेसेहिं वासावासं पज्जेसवेइ ॥

श्रमण भगवान् महावीर ने वर्षावास का एक माह बीस दिन बीतने पर और ७० रात्रि दिन अवशेष रहने पर पर्युषण-कल्प अर्थात् संवत्सरी पर्व की आराधना की। चातुर्मास का आरम्भ आषाढ शुक्ला पूर्णिमा से होता है। उससे ४९ या ५० वां दिन भाद्रपद शुक्ला पंचमी को आता है। इस आगम के पाठ से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्रभु महावीर ने और उनके पूर्ववर्ती तीर्थंकरों ने भी इस पर्व का आराधन किया था। इससे इस पर्व की सनातनता और महत्ता सिद्ध होती है।

यह दिन आध्यात्मिक दृष्टिकोण से तो महत्त्वपूर्ण है ही, समग्र सृष्टि के लिए भी युगान्तरकारी है। जैन सिद्धान्त के अनुसार कालचक्र के बारह आरक हैं। छह आरक उत्सर्पिणी (उत्तरोत्तर विकास) काल के हैं और छह आरक अवसर्पिणी (क्रमिक ह्रास) काल के हैं। जिस समय में मनुष्य आदि प्राणियों के शरीर की ऊंचाई-चौड़ाई तथा शक्ति में तथा जमीन आदि पदार्थों के रस-कस में उत्तरोत्तर उत्कर्ष होता जाता है, वह काल उत्सर्पिणी काल कहलाता है और जिस समय में इनका क्रमिक ह्रास होता जाता है,

वह समय अवसर्पिणी काल कहलाता है । यह काल का चक्र निरन्तर घूमता रहता है। वर्तमान में अवसर्पिणी काल का पञ्चम दुःषम नामक आरा चल रहा है । २१ हजार वर्ष तक यह चलेगा। इसकी समाप्ति पर छठा दुःषम-दुःषम आरक लगेगा। वह ह्रास की पराकाष्ठा काल होगा । उस में धर्म, कर्म, राज्य व्यवस्था आदि का लोप हो जायगा । प्रकृति में भयंकर उथल-पुथल होगी । गांव-नगर उजड़ जाएंगे । यह आरा लगते ही प्रथम सप्ताह में भयंकर प्रलयंकारी वायु चलेगी जो अधिकांश बस्तियों को उजाड़ देगी । एक सप्ताह तक असह्य प्रलयंकर ठंठ पड़ेगी । एक सप्ताह तक खारे जल की मूसलधार वर्षा होगी । वह जल इतना खारा और तीक्ष्ण होगा कि जीवधारियों और वनस्पतियों के शरीर जलने लगेंगे । इसके पश्चात् ७ दिन तक विष-वृष्टि, ७ दिन तक धूलि-वृष्टि और ७ दिन तक धूम्र की वृष्टि होगी । इस तरह सात सप्ताह तक प्रलयंकारी दृश्य रहेगा । ५० वें दिन शान्ति होगी । इसी तरह जब उत्सर्पिणी काल प्रारम्भ होगा तब उसके प्रथम आरक में भी यही स्थिति चलेगी । जब दूसरा आरा प्रारम्भ होगा, तब एक सप्ताह तक दूध जैसे पानी की वर्षा होगी, एक सप्ताह तक घृत की वर्षा, एक सप्ताह तक अमृत की वर्षा, एक सप्ताह तक ईख जैसे जल की वर्षा, इसके पश्चात् एक सप्ताह खाली जाएगा। तत्पश्चात् अन्य वृष्टियां होंगी जिससे जमीन पुनःसरसब्ज बन सकेगी और मानव तथा अन्य जीवधारियों के लिए हितावह होगी । इस प्रकार ५० वें दिन शान्ति होगी । सावन मास से आरक का प्रारंभ होता है । उससे ५० वें दिन अर्थात् भाद्रपद शुक्ला पंचमी का दिन शान्ति का दिन है ।

शान्ति का पर्व

उक्त सैद्धान्तिक विवेचन से ज्ञात होता है कि यह संवत्सरी का दिवस शान्ति का पर्व है । सकल सृष्टि की दृष्टि से भी यह शान्ति का दिन है और आध्यात्मिक दृष्टि-कोण से भी यह शान्ति का दिन है । कषायों की जाज्वल्यमान आग को, वैर-विरोध की लपटों को उपशान्त करने का यह भव्य प्रसंग उपस्थित है । अतएव क्षमा के जल से इस धधकती हुई कषाय की (लाय) अग्नि को शान्त कर दीजिये । आपकी आत्मा अपूर्व शान्ति का आस्वादन एवं अनुभव करेगी । इस प्रकार इस दिन को हमें शान्ति के पर्व के रूप में मनाना है ।

ऐसा भी माना जाता है कि पर्व के प्रसंग पर अगले भव की आयु का बन्ध भी पड़ सकता है । अतएव यदि पवित्र अध्यवसायों के साथ इस शान्ति-पर्व की आराधना की जाय तो यह अगले जीवन में भी शान्ति देने वाला होता है । अतएव इस शान्ति पर्व की सम्यग् आराधना करनी चाहिए । इस पर्व को भगवान् महावीर ने मनाया, गौतम गणधर ने मनाया । सुधर्मा स्वामी और अन्य आचार्य परम्परा से इसे मनाते आ रहे हैं । लगभग २५०० वर्ष पूर्व से यह परम्परा चली आ रही है ।

आत्मशुद्धि का पर्व :

प्रभु महावीर के चतुर्विध (साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका) संघ के प्रत्येक सदस्य के लिए इस पर्व की आराधना करना

अनिवार्य होता है । तभी वह प्रभु की आज्ञा का आराधक माना जाता है । अतएव प्रत्येक सदस्य को गंभीरता के साथ इस पर्व की आराधना के लिए चिन्तन, मनन और अनुशीलन करना चाहिए ।

यह पर्व, अन्य लौकिक पर्वों की अपेक्षा विलक्षण है । अन्य पर्वों में खाना-पीना-ओढना रंग-राग और आमोद-प्रमोद की प्रमुखता होती है । इस पर्व में यह सब छोड़ना होता है । अन्य पर्व शरीर को सजाने के लिए हैं तो यह पर्व आत्मा को सजाने-संवारने के लिए है । आत्मा को सजाने-संवारने के लिए आवश्यक है कि शरीर की आसक्ति को हटाया जाय । एक म्यान में दो तलवार नहीं रह सकतीं । इसी तरह शरीर की आसक्ति और आत्मा की भक्ति एक साथ नहीं हो सकती । अतएव इस पर्व पर खान-पान का त्याग किया जाता है, वस्त्राभूषणों की चमक-दमक को छोड़ा जाता है, विषय कषायों से दूर रहा जाता है । प्रत्येक अपने आपको जैन मानने वाला व्यक्ति इस दिन उपवास करता है । बारह महीनों में कभी धर्मस्थान पर न आने वाला व्यक्ति भी इस दिन तो अवश्य धर्मस्थान पर आता है । यह इस बात का द्योतक है कि जैन संसार में इस पर्व का कितना अधिक महत्त्व है !

जैन साधु-साध्वी समुदाय इस दिन चौविहार उपवास रखते हैं । केश-लुंचन करते हैं, साथ ही कषायों का भी लुंचन करते हैं । संयम की साधना में लगे दोषों की आलोचना करते हैं, प्रायश्चित्त लेते हैं और आगे के लिए

प्रत्याख्यान करते हैं । श्रावक-श्राविकावर्ग भी उपवास[1] करते हैं, पौषध[2] करते हैं, कषायों को शान्त करते हैं, वैर-विरोध को मिटाते हैं और परस्पर में क्षमा का आदान-प्रदान करते हैं। यह आत्मनिरीक्षण का दिन है। वर्ष भर के कार्यों का, व्यवहारों का लेखा-जोखा करके यह जानना चाहिए कि इस वर्ष में आत्मिक क्षेत्र में कितनी प्रगति हुई या कितनी अवनति हुई ? आत्मनिरीक्षण द्वारा अपनी भूलों का चिन्तन कर उनके संशोधन के लिए संकल्प करना चाहिए। संसार के सभी प्राणियों के साथ मैत्री भाव रखने की भावना विकसित होनी चाहिए। जिनके साथ वैर-विरोध का प्रसग वना हो उनके प्रति विशेष ध्यान देकर क्षमा-याचना करनी चाहिए । शास्त्रकार फरमाते हैं कि चाहे साधु हो या श्रावक, जो कषायों को, क्लेशों को उपशमाता है वही आराधक है, जो नहीं उपशमाता है, वह आराधक नहीं है ।

'जे उवसमइ तस्स अत्थि आराहणा ।
जे नो उवसमइ तस्स णत्थि आराहणा ।।'

---

१. उपवास का तात्पर्य आत्मा के स्वरूप चिन्तन के लिए खान, पान आदि कार्यों से निवृत्त हो अन्तर के संशोधन में सलग्न होना है। कहा है कि —

कषायविषयाहार त्यागो यत्र विधीयते ।
उपवासः स विज्ञेयः शेषं तु लंघनं विदुः ।।

२. पोषध का तात्पर्य आत्मा में विद्यमान त्यागं वैराग्य के गुणों का पोषण करना एवं उनमें अभिवृद्धि करना है ।

"उवसमसारं खलु सामण्णं" संयम चाहे वह सर्व-संयम हो अथवा देश संयम हो-का सार उपशम है। कषायों का, क्लेशों का वैर-विरोधों का उपशमन करना ही संयम है। आज के इस महान् पर्व का एक मात्र सन्देश है—उपशम ! स्वयं शान्त वनिये और दूसरों को भी शान्ति दीजिये। क्षमा कीजिये और क्षमा मांगिये।

'खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती में सव्वभूएसु वेरं मज्झ न केणइ ॥'

आत्मा के अन्दर से यही नाद प्रकट होना चाहिए। "मैं सब जीवों को क्षमा प्रदान करता हूँ और सव जीव मुझे क्षमा प्रदान करें। संसार के किसी जीव के साथ मेरा वैर नहीं है। सब जीवों के साथ मेरी मैत्री है।" यह अन्तर्नाद जब आत्मा में स्फुरित होता है, वाणी द्वारा प्रकट होता है, आचरण में आता है तो आत्मा निर्मल हो जाती है, शल्यरहित हो जाती है, कर्मभार से हल्की हो जाती है एवं परम शान्ति का अनुभव करती है। आत्मशुद्धि का यह भव्य प्रसंग आज हमारे सामने उपस्थित है।

पर्युषण पर्व के दिनों में आपने 'अन्तगड' सूत्र का श्रवण किया है। उसमें कैसे-कैसे आदर्श महामानवों और महा-महिलाओं के चरित्र अंकित हैं ! आत्मशोधन के लिए उन्होंने संयम और तप की कितनी उत्कृष्ट साधना की, यह आप श्रवण कर चुके हैं। मगध के सम्राट श्रेणिक की रानियों ने संयम अंगीकार करके कितनी कठोर तपस्याएं की ! उनका वर्णन सुनने मात्र से रोमाञ्च हो आता है।

राजभवनों में रहने वाली, स्वर्ण के झूलों में झूलने वाली कोमलांगी राजरानियों ने रत्नों और मोतियों के आभूषणों को छोड़कर तप के मुक्ताहारों से अपनी आत्मा को सजाया अलंकृत किया। कनकावली और रत्नावली तप के हारों को धारण किया। अतएव उनकी महिमा इस प्रसंग पर संत-जन किया करते हैं। एक गायन की कड़ी इस प्रकार है-

काली ओ रानी सफल कियो अवतार।

काली रानी ने कठोर तपस्या करके अपने जीवन को धन्य और सफल बनाया। आज भी माताएं तपस्या करने में पीछे नहीं रह रही हैं। देशनोक में बड़ी-बड़ी तपस्याओं का प्रसंग उपस्थित हुआ है। आज एक बहिन के ४७ वें उपवास की तपस्या है। उनकी शारीरिक स्थिति देखकर कोई कल्पना तक नहीं कर सकता कि यह इतनी लम्बी तपस्या कर सकती है। वास्तविकता तो यह है कि तपस्या का सम्बन्ध शारीरिक स्थिति के साथ नहीं है। इसका संबंध मनोबल और आत्मा के साथ रहता है। यह बहिन (पूरनबाई मुकीम) प्रति वर्ष तपस्या करती है। कभी ३०, कभी ५१ उपवास की तपस्या भी यह कर चुकी है। यहां पर ४१ और ३० उपवास की तपस्याएं भी हो चुकी हैं। अजीब ढंग का रसायन इन माताओं में आ जाता है! अठाइयां तो बहुत-सी हो चुकी हैं और हो रही हैं। पहले जिन्होंने उपवास भी नहीं किया वे भी अठाई कर रहे हैं। विविध प्रकार की अन्य तपस्याएं भी हो रही हैं जिनकी सूची मंत्रीजी बना रहे हैं।

तप से शुद्धि :

जिस प्रकार आग में तपकर सोना निखर उठता है उसी तरह तपस्या की आग में आत्मा का मैल जल जाता है और वह शुद्ध स्वर्ण की तरह निखर उठती है। आत्मा के विकारों को जलाने के लिए तप आवश्यक है। वह आत्मशुद्धि का अनिवार्य अंग है। जिस प्रकार शरीर के रोगों का उपचार प्रारम्भ करने के पूर्व वैद्य विरेचन (जुलाब) देकर पेट की शुद्धि करता है ऐसा करने के बाद ही औषधि अपना प्रभाव प्रकट करती है, अन्यथा वह निरर्थक सिद्ध होती है। इसी तरह आध्यात्मिक जीवन के वैद्य प्रभु महावीर ने आत्मशुद्धि के लिए प्रारम्भिक उपचार के रूप में तप का प्रतिपादन किया है। आध्यात्मिक शुद्धि के लिए भूमिका के रूप में तप की आवश्यकता है। तप के माध्यम से भूख की परतंत्रता मिटती है, शरीर की आसक्ति घटती है और भावनाओं में निर्मलता आती है। यहीं से आध्यात्मिक शुद्धि की भूमिका शुरु होती है। दोषों को हटाने की क्षमता आती है। कषायों को शमन करने की योग्यता प्रकट होती है। आत्मा में आर्द्रता, कोमलता, स्निग्धता और सरलता पैदा होती है जिससे वह धर्म और मोक्ष रूपी अंकुर को उत्पन्न करने में समर्थ बनती है।

जिस मिट्टी में आर्द्रता और मृदुता नहीं है, उसमें कोई अंकुर नहीं फूट सकता। अतएव चतुर किसान बीज बोने से पहले भूमि की आर्द्रता की अपेक्षा रखता है। मिट्टी के मुलायम होने पर ही वह बीज वपन करता है अन्यथा बीज के व्यर्थ चले जाने की आशंका रहती है। इसी तरह धर्म

और मोक्ष के अंकुर को यदि आप प्रकट करना चाहते हैं तो पहले आत्मा को सरल, आर्द्र और सुकोमल बनाना चाहिए। तप के द्वारा यह भूमिका प्राप्त होती है तथा इस स्थिति को प्राप्त करने में ही तप की सार्थकता है।

धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ :

सिंहनी का दूध स्वर्ण के पात्र में ही रह सकता है। इसी तरह सम्यक्त्व या धर्म भी शुद्ध आत्मा में ही टिक सकता है। आप संवत्सरी महापर्व की आराधना हेतु यहां संतों की सेवा में आये हैं तो सर्वप्रथम भूमिका की शुद्धि हेतु मन के विकारों को पारस्परिक वैर-विरोध और मनोमालिन्य को धोकर शुद्ध हो जाइये। आत्मनिरीक्षण द्वारा अपने दोषों की आलोचना कीजिये और प्रायश्चित्त के पानी से उन्हें धो डालिये। आलोचना सुनने योग्य समर्थ सद्गुरु के समक्ष अपनी आलोचना कर हृदय को परिमार्जित कर लीजिये। जिनके साथ वैर-विरोध का प्रसंग प्राप्त हुआ हो उनसे अन्तःकरणपूर्वक क्षमायाचना कीजिये।

याद रखिये, क्षमा मांगना और क्षमा करना दिव्यता और महत्ता का सूचक है। अक्कड़पन या मिथ्या अहंकार क्षुद्रता की निशानी है। वड़े-वड़े छायादार और फल वाले वृक्ष झुकते हैं। एरण्ड कभी नहीं झुकता। लोकोक्ति है—

नमे सो आंवा आमली, नमे सो दाडिम दाख।
एरण्ड वेचारा क्या नमे, जाकी ओछी साख।।

झुकने में वड़प्पन है। आम्र, इमली, दाड़िम, दाख

आदि जातिवंत तरु झुकते हैं। तुच्छ एरण्ड का झाड़ अक्क-ड़पन से नहीं झुकता। परिणाम यह होता है कि वह वायु के आघात से शीघ्र धराशायी हो जाता है जबकि बड़े और झुकने वाले पेड़ हवा के आघातों में भी मस्ती से झूमते रहते हैं।

अतएव इस मिथ्याभिमान को दूर कीजिये कि 'मैं सामने वाले से पहले क्षमा कैसे मांगूं? पहले वह क्षमा मांगेगा तो मैं मांगूंगा।' यदि ऐसी भावना दिल के किसी भी कोने में विद्यमान है तो समझ लीजिये कि आत्मशुद्धि का कोई अवसर नहीं है। इस प्रकार की भावना तो महज सौदेबाजी है। सौदेबाजी के अभ्यासी आध्यात्मिक क्षेत्र में भी सौदेबाजी करते हैं परन्तु इससे आत्मा की शुद्धि नहीं हो सकती। सामने वाला व्यक्ति क्षमा मांगे या न मांगे, आपको पहल करनी चाहिए। वैर-विरोध और कषाय के पोटले को फेंक कर लघुभूत हो जाइये। आज का यह महान् शान्तिपर्व आपको प्रेरणा दे रहा है, एक अपूर्व अव-सर आपके सामने उपस्थित है। यदि आज के दिन क्षमा-याचना नहीं की और अगले बारह महीनों के लिए वही बनी रही तो सम्यक्त्व भी नहीं रह पाएगा तो श्रावकत्व की तो बात ही क्या?

शास्त्रकारों ने कहा है कि जिस व्यक्ति के जीवन में क्रोध की मात्रा इतनी तीव्र है कि जिससे उसका वैर-विरोध हो जाय, वह व्यक्ति उससे क्षमायाचना कर लेता है फिर भी यदि वह व्यक्ति उससे क्षमायाचना नहीं करता और अपने विरोध को, क्लेश को, कषाय को बनाये रखता है तो

वह अनन्तानुबंधी कषाय वाला होता है। ऐसा व्यक्ति प्रायः नरकगामी होता है।

स्वर्गीय आचार्य देव फरमाया करते थे कि—

"तांबा, सोना, सुघड नर, टूटे जुड़े सौ बार।
मूरख हांडी कुम्हार की जुड़े न दूजी बार॥"

तांबा, सोना और बुद्धिमान व्यक्ति टूटने पर पुनः जुड़ जाते हैं। लेकिन कुम्भार की हांडी और मूर्ख व्यक्ति टूट जाने पर फिर नहीं जुड़ा करते। मूल्यवान तांबा-सोने के बर्तन फूट जाते हैं तो ताप लगने से पुनः जुड़ जाते हैं। सुघड नर भी विचार भेद होने पर समझाने-बुझाने से अपना आग्रह छोड़ कर एक हो जाते हैं। मैं समझता हूँ कि आप सुघड नर हैं। मूर्ख की श्रेणी में या कुम्हार की फूटी हाँडी जैसा होना तो आप पसन्द नहीं करेंगे। आप चतुर और विचक्षण व्यापारी हैं। अतएव अपने मनोमालिन्य को समाप्त कर आपस में प्रेम की गंगा बहाइये। आपकी आत्मा अनुपम शान्ति का अनुभव करेगी। यह संवत्सरी पर्व का सम्यग् आराधन होगा। मन का मैल धो डालिये, कषायों का शमन कर लीजिये, क्षमा और शान्ति की सरिता में अवगाहन कीजिये।

अपना दिल और हृदय विशाल होता है, उदार होता है, क्षमाशील होता है तो उसका प्रभाव दूसरे पर पड़े विना नहीं रहता। इसके संबंध में एक कथानक बहुत मननीय है।

दोषी कौन ?

एक धर्म सभा की घटना है। धर्मस्थान में सब तरह

के व्यक्ति पहुंचते हैं। सेठ, साहूकार, राजा-महाराजा, नेता गरीब, मजदूर, राह के भिखारी आदि सब आते हैं। धर्म-स्थान सबको प्रश्रय देता है, सब आत्मसाधना के अधिकारी हैं। धर्मस्थान गंगा के समान होता है। वहां भेदभाव नहीं होना चाहिए। संतजन सबको समभाव से उपदेश करते हैं।

एक सम्पन्न सेठ धर्मस्थान में आये। उनके गले में हीरों का कंठा था। एक दूसरा व्यक्ति भी धर्मस्थान में आया। वह आर्थिक दृष्टि से बड़ा कमजोर था। सेठ ने रात्रि के समय पौषध किया और कंठा उतार कर अपने पास रख लिया। दूसरा व्यक्ति जब धर्मस्थान में आया था तब उसकी भावना मलिन नहीं थी परन्तु सेठ का कंठा देखकर उसके मन में मलिन भावना आ गई। उसने सोचा— "मैं बहुत दुखी हूं, बाल-बच्चों का भरण पोषण भी नहीं कर पाता हूं, मेरे पास साधन नहीं हैं, आजीविका चलती नहीं, कोई उधार भी नहीं देता, क्या करूं? कैसे परिवार का निर्वाह करूं? क्यों न सेठ जी का यह कंठा चुपके से उठा लूं?'

धर्मस्थान में आने से भावना पवित्र बननी चाहिए परन्तु परिस्थितिवश उस भाई के दिल में मलिन भावना आ गई। वर्षा में सब वनस्पति हरी-भरी हो जाती है परन्तु जवासा सूखता चला जाता है। परिस्थिति और संयोगों के कारण उस व्यक्ति के दिल में पाप आ गया और उसने वह कंठा उठा लिया।

सेठ उस समय पौषध में थे। धर्मध्यान की भावना

प्रबल थी । सेठ ने उसे कंठा उठाते हुए देख भी लिया था परन्तु वह चुपचाप रहा । उसने विचार किया कि 'इस समय मैं व्रत में हूं । कंठे को मैंने उतार रखा है । वह अभी मेरा नहीं है ।'

सेठ शान्त भाव से पौषध में लीन रहा । उसने किसी से कोई चर्चा नहीं की । कितनी विशालता है सेठ के दिल की ! आज तो परिस्थिति कुछ और ही है ! यहां भाई-बहिनें व्याख्यान श्रवण कर रहे हैं परन्तु बहुतों का ध्यान शायद अपने जूतों और चप्पलों की ओर है कि कोई उन्हें उठा न ले जाय ! सेठ का कंठा उठा लिया गया परन्तु सेठ ने किसी से चर्चा तक नहीं की ! कितना बड़ा है उसका दिल !

वह व्यक्ति कंठा चुरा कर चला गया । लेकिन उसके मन में उथल-पुथल मच गई । वह सोचने लगा—'मैंने बड़ा भारी पाप किया है । धर्मस्थान में चोरी की है । अन्य स्थान पर किया हुआ पाप धर्मस्थान में आकर छुडाया जाता है । धर्मस्थान में किया हुआ पाप तो वज्रलेप होता है । उससे छुटकारा कहां मिलेगा ?' वह अपने आपको कोस रहा था और घबरा भी रहा था । उसे भय था कि प्रातः-काल पौषध पार कर सेठ घर आएगा तो मुझे पकड़वा कर दण्डित कराएगा ! शंका और भय के कारण वह आकुल-व्याकुल था । उसका चित्त अशान्त था । वह पाप करना नहीं चाहता था परन्तु परिस्थिति ने उसे लाचार बना दिया था । वह आदतन अपराधी नहीं था । अतः उसे अपने इस कार्य पर बहुत खेद हो रहा था !

प्रातःकाल सेठ पौषध पार कर अपने घर पहुंचा। सेठ के गले में कंठा न देखकर परिवार और दूकान के लोगों ने पूछा तो सेठ ने कहा – चिन्ता न करो, वह ठिकाने पर है।' सेठ ने गंभीर दृष्टि से विचार किया, 'इन्सान परिस्थितियों का दास है। वह पाप करना नहीं चाहता परन्तु परिस्थितियां उसे लालची बना देती हैं। उस व्यक्ति ने कंठा चुरा लिया है, निश्चित ही वह बहुत परेशान और दुखी होगा। यह मेरा अपराध है कि मैंने सम्पन्न होते हुए भी दूसरे सार्धमिक भाइयों की सार,संभाल नहीं की। यदि मैं पहले ही अपने इस कर्त्तव्य का पालन करता तो उस व्यक्ति को यह पाप करने का प्रसंग ही नही आता।' सेठ को अपने सार्धमिकों के प्रति उपेक्षा-भाव रखने का पश्चात्ताप हो रहा है। उधर वह व्यक्ति भी पश्चात्ताप कर रहा है परन्तु उसको अपनी समस्या का समाधान नहीं मिल रहा है। दोपहर तक उसने राह देखी कि सेठ क्या करता है? सेठ के घर के पास होकर वह निकला, सेठ की और उसकी दृष्टि मिली भी लेकिन सेठ ने कुछ नहीं कहा। तब उसके मन में आया कि सेठ का दिल बहुत बड़ा है। यह कुछ करने वाला नहीं है। वह कुछ आश्वस्त हुआ।

अब उसके सामने समस्या है कि इस कंठे को गिरवी रखकर रुपये कहां से प्राप्त करें? वह सोचता है कि यदि अन्यत्र कहीं गिरवी रखता हूं तो चोरी की शंका में पकड़वा दिया जाऊंगा। अतः उसी बड़े दिल वाले सेठ के यहां कंठा गिरवी रखकर रुपये प्राप्त करूं तो ठीक रहेगा।

दिन के पिछले भाग में वह कंठा लेकर उसी सेठ के पास गया। लज्जित और भयभीत होते हुए उसने कहा, 'मैं मुसीबत में फंसा हुआ हूँ। कृपया यह कंठा गिरवी रख लीजिये और दस हजार रुपये दे दीजिये। वह कठा उसने उनके सामने रख दिया। सेठ समझ रहा था कि यह मेरा ही कंठा है किन्तु वह यह भी समझ रहा था कि यह व्यक्ति अत्यन्त ही मुसीबत का मारा हुआ है। उसने कहा-'अच्छा तुम दस हजार रुपये ले जाओ और यह कंठा भी ले जाओ। मुझे तुम्हारा विश्वास है।' उस व्यक्ति ने आग्रह करके कंठा सेठ के यहां गिरवी रख दिया और दस हजार रुपये ले लिये। वह व्यक्ति सोच रहा था कि यह सेठ सचमुच देव-पुरुष है। सेठ के विचारों में बहुत ही विशालता और उदारता आ गई थी। उसकी मानवता प्रबुद्ध हो उठी थी। स्वधर्मी वात्सल्य की उर्मियां उसके हृदय में हिलोरें ले रही थीं। तभी ऐसा व्यवहार हो सकता है, अन्यथा अपना ही चुराया हुआ माल अपने यहीं गिरवी रखने कोई आवे उस समय अन्य उसके प्रति कैसा और क्या व्यवहार करेंगे, यह मुझे बताने की आवश्यकता नहीं है।

वह सेठ और सेठानी मानवता का पाठ पढ़े हुए थे। सेठानी सेठ से दो कदम और आगे थी। उसने सेठ से कहा, 'आपने अपने सार्धमिक भाई को कठा गिरवी रखकर रुपये दिये, यह अच्छा नहीं किया। उसे कंठा वापस कर देना था। सार्धमिक भाई का विश्वास करना चाहिए। सेठ ने कहा, 'मैं तो कंठा उसे वापस दे रहा था, परन्तु वह बहुत आग्रह करने लगा, अतएव रख लिया। जिन परिवारों में

धार्मिक संस्कार होते हैं, जहां स्वधर्मी बन्धुओं के प्रति आत्मीय भावना जागृत रहती है, उन परिवारों के सदस्यों में कितनी उदार भावना आ जाती है, यह इस उदाहरण के द्वारा स्पष्ट हो जाता है ।

कालान्तर में उस व्यक्ति ने दस हजार रुपयों से व्यापार शुरु किया और उसे लाभ होने लगा । उसने द्रव्य कमा लिया । उसके दिल पर सेठ के उदार व्यवहार का बहुत प्रभाव पड़ा था । वह सेठ को अपना उपकारी मान रहा था । कृतज्ञता के भार से दबा हुआ वह व्यक्ति दस हजार रुपये और उचित व्याज लेकर सेठ के पास पहुंचा और उन्हे रुपये दे दिये । सेठ ने रुपये ले लिये और कंठा निकाल कर उसे देने लगे । उस व्यक्ति की आंखों में आंसू आ गये और वह कहने लगा, 'सेठ साहब, क्षमा करना, यह कंठा आपका ही है । मैंने परिस्थितिवश धर्मस्थान में इसे चुरा लिया था ! मैं अत्यन्त पापी, अधर्मी और अनैतिक हूं । आप मानव नहीं, देव हैं ! आपकी उदारता, दिल की विशालता और गंभीरता ने मेरे जीवन को बदल दिया है ! मैं आपका अत्यन्त आभारी हूं । किन शब्दों में मैं आपका आभार व्यक्त करूं, समझ नहीं पड़ता । सेठ, मुझे क्षमा कीजिये ।'

सेठ ने उसे आश्वासन देते हुए कहा, 'भाई ! अधीर न बनो ! तुम्हारा कोई दोष नहीं है । यह तो मेरा अपराध है कि मैंने तुम्हारी सार संभाल नहीं की । इसलिए तुम्हें गलत मार्ग पर कदम बढ़ाने के लिए मजबूर होना पड़ा ।'

दिन के पिछले भाग में वह कंठा लेकर उसी सेठ के पास गया। लज्जित और भयभीत होते हुए उसने कहा, 'मैं मुसीबत में फंसा हुआ हूँ। कृपया यह कंठा गिरवी रख लीजिये और दस हजार रुपये दे दीजिये। वह कठा उसने उनके सामने रख दिया। सेठ समझ रहा था कि यह मेरा ही कंठा है किन्तु वह यह भी समझ रहा था कि यह व्यक्ति अत्यन्त ही मुसीबत का मारा हुआ है। उसने कहा–'अच्छा तुम दस हजार रुपये ले जाओ और यह कंठा भी ले जाओ। मुझे तुम्हारा विश्वास है।' उस व्यक्ति ने आग्रह करके कंठा सेठ के यहां गिरवी रख दिया और दस हजार रुपये ले लिये। वह व्यक्ति सोच रहा था कि यह सेठ सचमुच देव-पुरुष है। सेठ के विचारों में बहुत ही विशालता और उदारता आ गई थी। उसकी मानवता प्रबुद्ध हो उठी थी। स्वधर्मी वात्सल्य की उर्मियां उसके हृदय में हिलोरें ले रही थीं। तभी ऐसा व्यवहार हो सकता है, अन्यथा अपना ही चुराया हुआ माल अपने यहीं गिरवी रखने कोई आवे उस समय अन्य उसके प्रति कैसा और क्या व्यवहार करेंगे, यह मुझे बताने की आवश्यकता नहीं है।

वह सेठ और सेठानी मानवता का पाठ पढ़े हुए थे। सेठानी सेठ से दो कदम और आगे थी। उसने सेठ से कहा, 'आपने अपने सार्धमिक भाई को कठा गिरवी रखकर रुपये दिये, यह अच्छा नहीं किया। उसे कंठा वापस कर देना था। साधर्मिक भाई का विश्वास करना चाहिए। सेठ ने कहा, 'मैं तो कंठा उसे वापस दे रहा था, परन्तु वह बहुत आग्रह करने लगा, अतएव रख लिया। जिन परिवारों में

धार्मिक संस्कार होते हैं, जहां स्वधर्मी बन्धुओं के प्रति आत्मीय भावना जागृत रहती है, उन परिवारों के सदस्यों में कितनी उदार भावना आ जाती है, यह इस उदाहरण के द्वारा स्पष्ट हो जाता है।

कालान्तर में उस व्यक्ति ने दस हजार रुपयों से व्यापार शुरु किया और उसे लाभ होने लगा। उसने द्रव्य कमा लिया। उसके दिल पर सेठ के उदार व्यवहार का बहुत प्रभाव पड़ा था। वह सेठ को अपना उपकारी मान रहा था। कृतज्ञता के भार से दवा हुआ वह व्यक्ति दस हजार रुपये और उचित व्याज लेकर सेठ के पास पहुंचा और उन्हे रुपये दे दिये। सेठ ने रुपये ले लिये और कंठा निकाल कर उसे देने लगे। उस व्यक्ति की आंखों में आंसू आ गये और वह कहने लगा, 'सेठ साहव, क्षमा करना, यह कंठा आपका ही है। मैंने परिस्थितिवश धर्मस्थान में इसे चुरा लिया था! मैं अत्यन्त पापी, अधर्मी और अनैतिक हूँ। आप मानव नहीं, देव हैं! आपकी उदारता, दिल की विशालता और गंभीरता ने मेरे जीवन को बदल दिया है! मैं आपका अत्यन्त आभारी हूँ। किन शव्दों में मैं आपका आभार व्यक्त करुं, समझ नहीं पड़ता। सेठ, मुझे क्षमा कीजिये।'

सेठ ने उसे आश्वासन देते हुए कहा, 'भाई! अधीर न वनो! तुम्हारा कोई दोष नहीं है। यह तो मेरा अपराध है कि मैने तुम्हारी सार संभाल नहीं की। अतएव तुम्हें गलत मार्ग पर कदम वढ़ाने के लिए मजवूर होना पड़ा।'

है । आप लोग यात्रा पर निकलते हैं तो ज्योतिषी से मुहूर्त निकलवाते हैं। उस मुहूर्त पर विश्वास करके, तिलक लगवा कर आप प्रस्थान करते हैं क्योंकि आपका विश्वास है कि ऐसा करने से कमाई अच्छी होती है, यद्यपि यह केवल श्रद्धा और विश्वास का विषय है । यह लौकिक मुहूर्त कभी फलते हैं और कभी नहीं फलते हैं । लेकिन सर्वज्ञ-सर्वदर्शी परमात्मा ने आत्मशुद्धि के लिए जो श्रेष्ठतम मुहूर्त बताया है, वह तो अवश्य ही फलप्रद होता है । इस मुहूर्त पर जो व्यक्ति साधना कर लेता है, वह निहाल और धन्य बन जाता है । यदि आप इस पर विश्वास करेंगे तो 'पल का बाया मोती निपजे' की लोकोक्ति सही सिद्ध होगी । स्वर्गीय आचार्यदेव फरमाया करते थे कि पल का बाया मोती कैसे निपजते हैं ?'

'पल का बाया मोती निपजे' :

एक ज्योतिष के पण्डित ने ज्योतिष विज्ञान का गहन अध्ययन किया था । उसकी पत्नी प्रतिदिन उससे झगड़ा करती हुई कहती कि तुम पोथियां पढ़ते रहते हो, कमाई तो कुछ करते नहीं । ज्योतिषी ने कहा 'मैं ऐसा मुहूर्त निकालूंगा जब जुवार से मोती बन जाएंगे ।' पत्नी को उस पर विश्वास नहीं था । वह कहने लगी, 'गप्पे हांकना जानते हो, करते-कराते कुछ नहीं । जुवार से कभी मोती बन सकते हैं ?'

संयोग से, आकाश में नक्षत्रों के योग का वैसा प्रसंग आया । उस पण्डित ने गणित द्वारा समय का निर्धारण किया । उसने अपनी पत्नी से कहा, 'देखो, अब मैं साधना करता हूँ ।

तुम जुवार लेकर बैठना, चूल्हे पर गरम पानी का वर्तन चढ़ा देना । जिस समय मैं 'हूं' कहूँ, उसी क्षण जुवार के दाने गरम जल के वर्तन में डाल देना । थोड़ी ही देर में वे मोती वन जाएंगे ।'

पत्नी को उसकी बात पर विश्वास तो था नहीं, फिर भी वह कहने लगी, 'घर में एक समय का खाना भी नहीं है, जुवार कहां से लाऊं ? पण्डित ने कहा-'पड़ौस में सेठानी रहती है, उससे उधार ले आओ ।'

पत्नी पड़ौसिन के पास गई और बोली कि सेठानी जी, मुझे २० सेर जुवार उधार दे दीजिए ।'

सेठानी ने सहज भाव से पूछ लिया, 'क्यों वाई, ऐसी क्या आवश्यकता पड़ गई, जो जुवार उधार मांग रही हो ?' उस विद्वान की पत्नी ने कहा, 'मेरे पति कहते हैं कि ऐसा मुहूर्त आने वाला है जव जुवार को चूल्हे पर चढ़े हुए गरम पानी के वर्तन में डाल देने पर वह मोती रूप में वदल जाएगी ।'

सेठानी को उस विद्वान ज्योतिपी पर विश्वास था । वह मन ही मन प्रसन्न हुई और उसने २० सेर जुवार उसको दे दी । सेठानी ने सोचा कि नक्षत्रों का योग तो आकाश में होगा । पण्डित जी के घर में नहीं । यदि ऐसा योग आने वाला है तो जैसे पण्डित जी के घर में आएगा, वैसे ही मेरे घरमें भी आएगा। उनके यहां उस समय में जुवार से मोती वन सकते हैं तो मेरे घर पर क्यों नहीं वनेंगे ?

उसने शीघ्र सिगड़ी तैयार करके गरम पानी का वर्तन उस पर रख दिया और बीस सेर जुवार पास में रख कर दीवार के पास बैठ गई। उसके कान दीवार पर लगे हुए थे ।

उधर उस विद्वान की पत्नी भी पानी उबाल कर जुवार पास में लेकर बैठ गई। विद्वान ने आराधना शुरु की जैसे ही उसने 'हूँ' कहा, सेठानी ने तो जुवार पानी में डाल दी किन्तु उस विद्वान् की पत्नी ने 'हूँ' शब्द सुनकर कहा 'क्या जुवार डाल दूं ?' समय बहुत सूक्ष्म होता है। वह शुभ योग निकल गया। पण्डित ने माथा धूना। उसने कहा, 'मैने पहले ही समझा दिया था कि 'हूँ' कहते ही जुवार डाल देना। पूछने की क्या आवश्यकता थी? इस मूर्खा ने सुअवसर गवां दिया।' उसकी पत्नी ने वह योग निकल जाने पर जुवार पानी में डाली तो वह घूघरी वन गई। उसने क्रोधित होकर कहा—'यह क्या हुआ ? यह जुवार तो घूघरी बन गई ! बड़े चले थे जुवार से मोती वनाने ? अब मैं पड़ोसिन को २० सेर जुवार कहां से लाकर दूंगी ?' उसको इतना क्रोध आया कि उसने वह वर्तन लाकर पति के सामने पटक दिया और सारी घूघरी विखर गई।

उधर सेठानी ने वर्तन उघाड़ा तो उसमें मोती के दाने चमक रहे थे। २० सेर जुवार मोती के रूप में परिणत हो गई थी। उसमें से थोड़े मोती लेकर वह उस विद्वान् ज्योतिषी के घर आई। उसके सामने मोती के दाने रखे और वोली, 'पण्डित जी ! यह आपकी कृपा का परिणाम है। आपके वताये हुए मुहूर्त पर मैने जुवार पानी में डाल दी

जिससे सव मोती वन गये ! उस के उपलक्ष्य में यह तुच्छ भेंट आप को समर्पित करने आई हूं ।'

यह सुनकर विद्वान् को अपनी विद्या पर और अधिक विश्वास हुआ । वह अपनी पत्नी से बोला,' तुमने मुहूर्त चुका दिया ! सेठानी ने मुहूर्त साध लिया तो वह निहाल हो गई ।'

यह सुनकर पत्नी के नेत्र खुले और वह रोने लगी । वह कहने लगी, 'एक वार और वही मुहूर्त ले आओ ।' पण्डित जी ने कहा, 'ऐसा दुर्लभ संयोग वारवार नहीं आया करता । वह तो कभी कभी आता है । जो उसका लाभ उठा लेता है, वह निहाल हो जाता है । जो उसे गवां देता है, वह रोता रह जाता है ।'

आज संवत्सरी का ऐसा ही शुभ योग आया है । तीर्थंकर भगवंतों ने यह श्रेष्ठतम मुहूर्त दिया है । उस पर विश्वास करोगे तो जुवार से मोती बन जाएंगे । यदि विश्वास न करोगे और इस दुर्लभ अवसर को गवां दोगे तो उस मूर्खा पत्नी की तरह पश्चात्ताप करना पड़ेगा। इस मुहूर्त का लाभ उठा लीजिये । जुवार से मोती वना लीजिये । तीर्थंकर देवों के वचनों पर विश्वास रखकर अपने दोषों की आलोचना करिये, उनको निकाल कर वाहर कीजिये, वैर विरोध को मिटा दीजिये । आपके दोष रूपी जुवार के दाने सद्गुण रूपी मोती में वदल जाएंगे। आप निहाल और धन्य वन जाएंगे । आपका इहलौकिक और पारलौकिक जीवन मंगलमय वन जाएगा । वड़ा सुन्दर सुअवसर उपस्थित है --

'यह पर्व पर्युषण आया, घर घर में मंगल छाया रे
यह पर्व पर्युषण आया'

'यह पर्व संसार में आनंद की वृद्धि करने के लिए, घर-घर में शान्ति का संचार करने के लिए, हृदय को शुद्ध और पवित्र बनाने के लिए आया है। छोटे-छोटे बालकों में भी उमंग दिखाई देती है। वे भी उपवास करने को तैयार होते हैं। बच्चों में खानेपीने की प्रवृत्ति विशेष पाई जाती है। पर्व दिनों में वे अच्छा खाना, अच्छा पहनना पसंद करते हैं परन्तु आज का यह पर्व विलक्षण ही है। बालक भी इस दिन उपवास रखना चाहते हैं। यह त्याग भावना उन संस्कारों का परिणाम हैं जो तीर्थंकर देव और उनकी परम्परा को सुशोभित करने वाले विशिष्ट गरिमा सम्पन्न त्यागी आचार्यों और मुनिवरों ने प्रदान किये हैं। त्याग, व्रत, संवर, आलोचना, प्रतिक्रमण, क्षमापना आदि के द्वारा इस महत्त्वपूर्ण दिन का लाभ लीजिये। बार-बार याद रखिये कि 'पल के बाये मोती निपजते हैं।'

आज के इस महान् आध्यात्मिक पर्व के प्रसंग पर भी कतिपय युवक सामायिक संवर किये विना ही वैठे हैं। क्या ही अच्छा हो यदि वे सामायिक करके व्याख्यान श्रमण का लाभ लें। स्वेच्छया व्रत अंगीकार कर आत्मानुशासन करना चाहिए। व्रतों की मर्यादा स्वीकार करनी चाहिए। अव्रत अवस्था में रहना ठीक नहीं है। व्याख्यान में सामायिक करके वैठने से दुहरा धर्म होता है। आप यहां वैठते तो हैं फिर सामायिक करने का लाभ क्यों नहीं लेते?

याद रखिये, व्रत-प्रत्याख्यान करने से ही आश्रव से बचा जा सकता है अन्यथा निरर्थक पाप का भार आत्मा पर चढ़ता रहता है । अतएव अव्रत का त्याग कर व्रत-धारण कीजिये और इस महान् मंगलमय पर्व की आराधना में सम्मिलित होइये ।

महाराजा उदायन की आराधना :

महाराजा उदायन बारह व्रतधारी श्रावक थे । उनकी दासी स्वर्णगुटिका का उज्जयिनी के राजा चण्डप्रद्योत ने कुटिलतापूर्वक अपहरण कर लिया । उदायन राजा के लिए यह अपमान का विषय था । श्रावक होते हुए भी अन्याय के प्रतिकार के लिए उन्होंने युद्ध करना उचित समझा । उदायन ने उज्जयिनी पर आक्रमण कर दिया । उन्होंने न केवल चण्डप्रद्योत को हराया ही अपितु उसे बन्दी भी बना लिया । जब वे वापस अपने राज्य की ओर सेना एवं बन्दियों को लेकर लौट रहे थे तो मार्ग में संवत्सरी महापर्व का अवसर आ गया ।

महाराजा उदायन की उदारता अनुपम थी । बन्दी होने के बावजूद वे राजा चण्डप्रद्योत का सम्मान करते और उसको अपने साथ ही भोजन करवाते थे । संवत्सरी की पूर्व सन्ध्या को उन्होंने चण्डप्रद्योत को कहलाया कि कल वे उपवास करेंगे, अतएव वे अपनी इच्छानुसार भोजन बनवा लें । चण्डप्रद्योत ने इसे कोई कूटनीतिक चाल समझी । अतः उसने भी कहला दिया कि वह भी कल उपवास करेगा ।

सांवत्सरिक प्रतिक्रमण के बाद जब क्षमायाचना का प्रसंग आया तो उदायन महाराज ने चण्डप्रद्योत से हार्दिक क्षमा याचना की। वे अपराधी को क्षमा करने के लिए तत्पर थे बशर्ते कि अपराधी अपराध स्वीकार कर ले। चण्डप्रद्योत ने इसे छुटकारे का अवसर मानकर अपना अपराध स्वीकार कर लिया। उदायन ने उसे न केवल क्षमादान ही किया अपितु उसका राज्य भी लौटा दिया। इतना ही नहीं, जिसके लिए उन्हें संग्राम करना पड़ा, वह स्वर्णगुटिका दासी भी उसे उपहार रूप में दे दी। इसे कहते हैं वास्तविक क्षमापना। संवत्सरी की सही आराधना उदायन राजा ने की। इसीलिए संवत्सरी के प्रसंग पर प्रतिवर्ष उनकी स्मृति हृदय पटल पर उभर आती है। प्रायः सर्वत्र इस प्रसंग पर उनकी गुणगाथा गाई जाती है।

महाराजा उदायन की तरह हमें भी संवत्सरी का आराधन करना है। विगत काल में किये गये कार्यों की आलोचना कर आत्मशुद्धि करना है। अपने वर्ष भर के कार्यों का लेखाजोखा करना है। किसके साथ कैसा व्यवहार किया है, यह भी आज के दिन सोचने का विषय है। परिवार के सदस्यों के साथ मन-मुटाव और क्लेश की स्थिति तो नहीं हैं, किसी को हैरान और परेशान तो नहीं किया? पड़ौसियों के साथ कैसा वर्ताव किया है? नगरवासियों और राष्ट्र के प्रति अपने कर्त्तव्य का निर्वाह किया है या नहीं? अपने सहयोगी और नौकर के प्रति आत्मीयता की दृष्टि रखी है या उनके शोषण की मनोवृत्ति अपनाई है, इत्यादि विषय भी आज के दिन मनन करने योग्य हैं।

जिनके प्रति अनुचित व्यवहार हुआ है, उनके साथ क्षमा-याचना कीजिये और भविष्य के लिए सबके प्रति शुभ भावना रखिये ।

सद्व्यवहार से हृदय-परिवर्तन :

पूर्वकाल के श्रावकों की आदर्श रीति-नीति मेरे मानस पटल पर रह-रह कर उभर आती है। अतएव मैं समय-समय पर उनका उल्लेख करता रहता हूँ। ऐसा ही एक प्रसंग मुझे याद आता है ।

एक बारह व्रतधारी श्रावक पौषध में बैठे थे। उनकी अनुपस्थिति में चोरों ने उनके घर में प्रवेश किया और धन माल चुरा कर ले गये। ये समाचार सेठ जी को मिले । वे अपने पौषधव्रत की आराधना में लीन रहे। थोड़ी देर बाद फिर समाचार मिले कि चोर पकड़ लिये गये हैं और धनमाल उनसे बरामद कर लिया गया है। इस समाचार से उन्हें प्रसन्नता नहीं हुई। उनकी चिन्तन धारा ने दूसरा ही रूप लिया। वे सोचने लगे, 'चोरी के अपराध में राजा उन भाइयों को कठोर दण्ड देगा। मेरा धन और मैं उसमें निमित्त बन रहे हैं। मुझे ऐसा यत्न करना चाहिए कि मेरे उन भाइयों को कठोर दण्ड न मिले और उनका सुधार भी हो जाय।'

प्रातः काल पौषध की क्रिया पूर्ण कर श्रावक अपने घर पर पहुंचा। घर वालों ने उसे घटना का विवरण सुनाया परन्तु उसकी विचारधारा कुछ और ही चल रही

थी । उसने तिजोरी से कुछ रत्न निकाले और उन्हें लेकर राजा को रत्न समर्पित किये और निवेदन किया कि 'मैं विशेष प्रयोजन से आपके पास आया हूँ । मेरे घर कल चोर पकडे गये हैं । आप उन्हें दण्ड देने वाले हैं । परन्तु मैं चाहता हूँ कि आप उन्हें दण्ड न दें ।'

राजा ने कहा–'अपराधी को दण्ड मिलना ही चाहिए । उन्होंने तुम्हारे घर पर चोरी की है और तुम उन्हें छुड़ाना चाहते हो, यह कैसी विचित्र बात है ?'

सेठ ने निवेदन किया, 'महाराज, व्यावहारिक और न्यायिक दृष्टि से अपराधी को दण्ड देना उचित है परन्तु मैं धार्मिक दृष्टिकोण को प्रधानता देकर उन्हें छुडाना चाहता हूँ । कल सांवत्सरिक प्रसंग से हमने ८४ लाख जीवयोनियों से क्षमायाचना की है । इस प्रकार की उदात्त और उदार धार्मिक भावना लेकर हम चल रहे हैं । इसलिए आपसे निवेदन है कि उन्हें क्षमादान दे दीजिये ।'

राजा ने चोरों को बुलाकर कहा, 'तुमने चोरी का भयंकर अपराध किया है । मैं तुम्हें कठोर दण्ड देना चाहता था परन्तु तुमने जिस सेठ के यहां चोरी की है वही उदारता एवं दया का सागर सेठ तुम्हें छोड़ देने का आग्रह कर रहा है । उसके निवेदन करने से मैं तुम्हें क्षमा दान करता हूँ । भविष्य में यदि कभी ऐसा अपराध करते पकड़े जाओगे तो भयंकर दण्ड भोगना पड़ेगा ।'

चोरों को जब यह ज्ञात हुआ तो वे आश्चर्यचकित

हो गये । वे सेठ की धार्मिक एवं उदार भावना से बड़े प्रभावित हुए । वे उस श्रावक के घर पहुंचे । उसके चरणों में गिर पड़े । सारा धन सेठ को समर्पित करते हुए बोले कि 'आप जैसा उदार और विशाल दृष्टि वाला व्यक्ति हमने कहीं नहीं देखा है । आपने न केवल हमें दण्डमुक्त ही करवाया अपितु हमें अपने जीवन-सुधार की दिशा प्रदान की है । हम आपको गुरु मानते हैं और प्रतिज्ञा करते हैं कि भविष्य में कभी चोरी नहीं करेंगे । यही गुरु-दक्षिणा आपको समर्पित करते हैं ।'

बन्धुओ ! देखिये, मानवी धरातल पर चोरों के प्रति भी सद् व्यवहार करने से उनका हृदय किस तरह परिवर्तित हो जाता है । सांवत्सरिक क्षमापना के प्रसंग से उस निष्ठावान श्रावक ने कैसा आदर्श उदाहरण प्रस्तुत किया !

भाइयो ! यदि इतनी उदारता व्यक्त करने की शक्ति न हो तो आपस की 'तू-तू मैं-मैं' तो आपके प्रसंग पर समाप्त कर देनी चाहिए । व्यक्तिगत कारणों को लेकर अक्सर मन-मुटाव हुआ करता है, अतः उसका परिमार्जन शुद्ध अन्तःकरणपूर्वक क्षमापना द्वारा कर लेना चाहिए । सबकी भलाई की दृष्टि से शुभ चिन्तन करना चाहिए । क्षमायाचन में गरीब-अमीर का भेद, छोटे-बड़े का भेद, स्त्री-पुरुष का भेद, पहले और पीछे का भेद नहीं होना चाहिए । जो पहल करता है, वह मीर (वीर) होता है । जो पहले क्षमा मांगता है वह महान् है । मिथ्याभिमान यह पहल नहीं करने देता, अतः उसे निकाल फेंकिये । हृदय में सरलता और नम्रता

धारण कर परस्पर में हार्दिक क्षमायाचना करके मन के कालुष्य को मिटा डालिये। देखिये, फिर कैसा आनन्द आता है और कितनी अपूर्व शान्ति प्राप्त होती है।

राष्ट्रपिता माहात्मा गांधी सभा में खड़े होकर कान पकड़ कर अपनी गलती स्वीकार करते थे, यदि उन्हें अनुभव होता कि उन्होंने गलती की है। यदि कोई भी पक्ष गलती स्वीकार करने की हिम्मत नहीं बना सकता है तो इतना करे कि विगत बातों के लिए किसी पर दोषारोपण न करते हुए उन्हें मेरी झोली में डाल दें। मन की गांठ को खोल दीजिये। एक दूसरे से साफ अन्तःकरण से क्षमायाचना कर लीजिये। आप सब मेरे भाई हैं, इसी दृष्टि से सावधानी दिलाता हूँ। किसी व्यक्ति विशेष को लक्ष्य में रख कर मैं नहीं कह रहा हूँ। समुच्चय रूप से, सिद्धान्त की दृष्टि से प्रतिपादन कर रहा हूँ। यह आपको अच्छा लगे या न लगे, इसका मुझे सोच-विचार नहीं है। मैं तो हित की दृष्टि से कभी-कभी कटुवचन भी बोल देता हूँ। लेकिन किसी व्यक्ति विशेष के लिए नहीं कहता। मैं तो तटस्थ भाव से प्रतिपादन करता हूँ। मेरे कथन से यदि किसी का दिल दुखा हो तो मैं क्षमायाचना करने हेतु तत्पर रहता हूँ। मैं केवल हित-बुद्धि से ही उपदेश करता हूँ, अतएव उसे सद्भावना पूर्वक समझने का प्रयास करें। उचित प्रतीत हो तो उस पर आचरण करें।

आत्मालोचना :

इस संवत्सरी के प्रसंग को लेकर मैं अपनी भी आलोचना कर लेना चाहता हूं। सर्वप्रथम मैं परम तारक तीर्थंकर

देवों और श्रमण-संस्कृति के पूर्वाचार्यों का उपकार मानता हूँ जिनके वताये हुए संयम-मार्ग पर मैं यथाशक्ति चलने का प्रयास कर रहा हूँ। वड़ा उपकार है मुझ पर उन महान् विभूतियों का! कदाचित् जानते-अजानते मेरे द्वारा उनकी कोई आशातना हुई हो, उनकी आज्ञा के विपरीत यदि किसी तत्त्व का मेरे द्वारा प्रतिपादन हुआ हो तो मैं अन्तःकरण पूर्वक क्षमायाचना करता हूँ।

उत्तरदायित्त्व और कर्त्तव्य दृष्टि को लेकर संतमण्डल एवं सतीवर्ग के विषय में कुछ कठोर शब्द कहने का प्रसंग आ जाता है। संत-सती गरण अपनी-अपनी स्थिति से संयम की साधना कर रहे हैं, तदापि कुछ अप्रिय कहने का अवसर आ ही जाता है। मैं तटस्थ बुद्धि और कर्त्तव्य भावना से प्रेरित होकर ही कुछ कहता हूँ तदापि मैं यथावसर उनसे क्षमायाचना कर लेता हूँ। उसी समय या प्रतिक्रमरण के समय क्षमायाचना करने का ध्यान रखता हूँ। आज के इस प्रसंग पर मैं पुनः सभी संत-सती वर्ग से क्षमायाचना करता हूँ।

इसी प्रकार श्रावक-श्राविका वर्ग को भी उपदेश के माध्यम से कुछ कहने में आ ही जाता है। किसी व्यक्ति विशेष को लक्ष्य में रखकर मैं कुछ नहीं कहता, समुच्चय रूप से प्रतिपादन करता हूँ। मैं नहीं चाहता कि मेरे शब्दों से किसी के दिल को आघात पहुंचे। लेकिन यदि सत्य बात का प्रतिपादन नहीं करता हूँ तो भी कर्त्तव्य से विमुख होता हूँ। संघ ने मेरे कंधों पर वड़ा भारी उत्तरदायित्व डाल रखा है। उसके निर्वाह हेतु मुझे कुछ कहना-सुनना

पड़ना है। यदि यह उत्तरदायित्व न हो तो मुझे अपनी साधना में, ज्ञान ध्यान में विशेष अनुकूलता हो सकती है। मुझे अपनी आत्मसाधना में अपूर्व आनंद की अनुभूति होती है और मैं उसी में रहना विशेष पसन्द करता हूँ। लेकिन स्वर्गीय आचार्य देव ने और चतुर्विध संघ ने जो दायित्व सौंपा है, उसे यथाशक्ति निभाने का प्रयत्न कर रहा हूँ। इसलिये उपदेश के माध्यम से या अन्य किसी प्रकार से किसी श्रावक-श्राविका के मेरे शब्दों से या व्यवहार से दुःख पहुंचा हो तो पुनः पुनः क्षमायाचना करता हूं।

देशनोक संघ का भी मैं उपकार मानना चाहता हूँ। यहां का संघ सूझबूझ वाला और संतसतीवर्ग के ज्ञान, दर्शन चारित्र की आराधना में सहयोग करने वाला है। शान्ति के साथ व्याख्यान श्रवण तथा धर्माराधना में वह किसी से पीछे नहीं है। साधु और श्रावक एक दूसरे के पूरक कहे गये हैं। श्रावक, साधु के चारित्र एवं सयम के पालन में सहायक होते हैं। इसी तरह साधु भी श्रावक के व्रताराधन में सहायक बनते हैं। प्रभु महावीर की संघ व्यवस्था बड़ी सुन्दर और ठोस है।

इसी तरह शास्त्रकारों ने जिन-जिन का उपकार प्ररूपित किया है, उन सभी का मैं उपकार मानता हूँ। ज्ञान, दर्शन चारित्र की आराधना में जो कोई भी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में सहायक हुए या हो रहे हैं, उन सबका उपकार मानते हुए क्षमायाचना करता हूँ।

शान्ति का संचार :

वन्धुओ ! यह संवत्सरी पर्व क्षमा और शान्ति का महापर्व है। इसकी सम्यग् आराधना सर्वत्र शान्ति का संचार करने वाली है। यह आत्मा को शान्ति प्रदान करता है, परिवार को शान्ति देता है, जाति और समाज में शान्ति का विस्तार करता है। देश में और सारे विश्व में यह शान्ति का संचार करने वाला है। अतएव शान्ति के इस महान् पर्व की सही आराधना कर अपने जीवन को मंगलमय बनावें। आपकी आत्मा में यह अन्तर्नाद स्फुरित हो—

'खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा खमन्तु मे
मित्ती मे सव्व भुएसु, वेरं मज्झ न केणइ ॥'

इस अन्तर्नाद से जीवन में और त्रिभुवन में सर्वत्र शान्ति का संचार, प्रसार और विस्तार हो, यही मंगलमय भावना और कामना है।

'सर्वे सुखिनः सन्तु'।

देशनोक
६-६-१९७५